ASPECTS OF JAINOLOGY

VOL. 1

LALA HARJAS RAI

COMMEMORATION VOLUME

P. V. RESEARCH INSTITUTE

Varanasi-5

Aspects of Jainology :
Vol. I

LALA HARJAS RAI
COMMEMORATION VOLUME

Edited by
PROF. SAGARMAL JAIN

P. V. RESEARCH INSTITUTE
VARANASI-5

Published by
P. V. Research Institute
I. T. I. Road, B.H.U., Varanasi-5
Phone : 66762

First Edition 1987
Price : Rs. 100.00

Printed by
Ratna Printing Works
Kamachha, Varanasi

जैन विद्या के आयाम :
ग्रन्थाङ्क १

लाला हरजसराय स्मृतिग्रन्थ

सम्पादक

प्रो० सागरमल जैन

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

वाराणसी-५

प्रकाशक :

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

आई. टी. आई. रोड, बी. एच. यू.

वाराणसी-५

फोन : ६६७६२

संस्करण : प्रथम १९८७

मूल्य : रु० १००.००

मुद्रक

रत्ना प्रिन्टिग वर्क्स

कमच्छा, वाराणसी

प्रकाशकीय

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान के इतिहास में उसके संस्थापक, निर्माता और संरक्षक के रूप में स्वर्गीय लाला हरजसराय जी का नाम स्वर्णिम अक्षरों में अङ्कित किया जायेगा। यदि विद्याश्रम के अकादमीय रूपकार का श्रेय पण्डित सुखलाल जी संघवी को है तो उसे मूर्तरूप देने का श्रेय निस्सन्देह स्वर्गीय लाला जी को ही है। लाला हरजसरायजी की जीवन शैली की विशिष्टता उनकी निष्काम समाज सेवा में है। हम यह कह सकते हैं कि लाला जी ने एक सार्थक जीवन जिया। देश, समाज और धर्म के लिए उनका सारा जीवन समर्पित रहा। उर्दू शायर का यह कथन उन पर चरितार्थ होता है—

दूसरों को जिसने दुनिया में बनाया कामयाब।
जिन्दगी उसकी है 'दानिश' उसका जीना है सफल।
हँस के दुनिया में मरा और कोई रोके मरा।
जिन्दगी पाई मगर उसने जो कुछ होके मरा।

उन्होंने पार्श्वनाथ विद्याश्रम रूपी इस ज्ञानमन्दिर का कलश बनने की अपेक्षा नींव का पत्थर बनना ही पसन्द किया। यही कारण था कि वे नितान्त मूकभाव से समर्पित होकर ४० वर्ष तक अनवरत रूप से संस्था का कार्य करते रहे। वस्तुतः पार्श्वनाथ विद्याश्रम आज जो कुछ है वह उनकी सेवा निष्ठा और उनके सद्प्रयासों का ही परिणाम है। फिर भी उन्होंने इसे सदा ही समग्र जैन समाज का धरोहर माना। लगभग ४० वर्षों तक मन्त्री के रूप में उन्होंने निर्लिप्त भाव से संस्थान की सेवा की, फिर भी यश और अपने नाम के प्रचार-प्रसार की कामना से वे नितान्त निर्लिप्त रहे। जीवन के जिस क्षेत्र में उन्होंने कदम बढ़ाये हर क्षेत्र में सफलता ने उनके चरण चूमे हैं। उनका जीवन ऐसा जीवन था जिसके सम्बन्ध में एक उर्दू शायर कहता है—

मरना जीना एक है, जिनको जरा भी ज्ञान है।
वह उधर का मर्तबा, यह इधर की शान है॥

वैसे तो उनके जीवन की अनेक विशिष्टतायें हैं, किन्तु समाजसेवा के क्षेत्र में जितनी निर्मल एवं निर्विवाद छवि स्वर्गीय लाला जी की रही, वह आज के युग में दुर्लभ है। लाला जी के मन में भी कभी यह विचार नहीं आया कि कोई उनकी सेवा का यथोचित मूल्यांकन करे। जब तक वे जीवित रहे सम्भवतः किसी में साहस भी नहीं था कि उनके समक्ष इस प्रकार का प्रस्ताव रख सके, अधिक क्या अपने जीवनकाल में उन्होंने संस्थान में अपना चित्र भी नहीं लगने दिया। यद्यपि उनकी अस्वस्थता की दशा में मैंने उनके सम्मान में अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन की योजना बनायी, किन्तु दुर्भाग्यवश हम उनके जीवन काल में इसे साकार नहीं कर सके। आज उनके स्वर्गवास के पश्चात् उनकी स्मृति में इस ग्रन्थ का प्रकाशन कर रहे हैं।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान की बहुत दिनों से योजना थी कि वह जैन विद्या के स्तरीय शोध-लेखों से युक्त 'श्रमण' के शोध-विशेषाङ्क प्रकाशित करके समाजसेवियों एवं जैन विद्या के

शीर्षस्थ विद्वानों को समर्पित करे किन्तु श्रमण के अधिकांश पाठकों के रुचि वैभिन्न्य, स्तरीय लेखों के अभाव एवं आर्थिक कारणों से ऐसा नियमित प्रकाशन सम्भव नहीं हो सका। अतः हमने 'जैन विद्या के आयाम' (Aspects of Jainology) शीर्षक के रूप में एक ग्रन्थमाला प्रकाशित कर उसका 'प्रथम पुष्प' संस्थान के संस्थापक लाला जी की पुण्यस्मृति में अर्पित करने का निश्चय किया। अपनी योजना को मूर्तरूप देने हेतु हमने जैनविद्या के विद्वानों से लेख आमन्त्रित किये। विद्वानों ने अतीव उत्साहपूर्वक अपने लेख भेजकर हमें जो सहयोग प्रदान किया हम उसके लिए उनके आभारी हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में लालाजी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर कुछ लेख हैं, उसके पश्चात् अंग्रेजी और हिन्दी भाषा में जैन विद्या से सम्बन्धित निबन्ध हैं।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन का सम्पूर्ण आर्थिक भार पूज्य लाला जी की स्मृति में स्थापित चैरिटेबल ट्रस्ट द्वारा वहन किया गया अतः हम उस ट्रस्ट के ट्रस्टियों के भी आभारी हैं।

इस ग्रन्थ का मुद्रण-कार्य रत्ना प्रेस, वाराणसी ने शीघ्र ही सम्पन्न किया जिसके लिए हम उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

प्रूफ संशोधन में डा० शिवप्रसाद, अशोक कुमार सिंह, डा० उमेशचन्द्र सिंह, श्री जितेन्द्र शाह एवं श्री महेश कुमार का सहयोग हमें प्राप्त हुआ एतदर्थ हम उनके प्रति भी आभारी हैं।

प्रो० सागरमल जैन
निदेशक

विषय-सूची

BIOGRAPHY

ENGLISH SECTION

HINDI SECTION

●

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के निर्माता



स्व. श्री हरजसराय जी जैन

जन्म : १३/०६/१८९६ स्वर्गवास : १८/०६/१९८६



Entrance to the Research-cum-Administrative Block.



A View of the Library.



Women's Hostel Block for the P.V. Research Institute.

व्यक्तित्व परिचय
BIOGRAPHY

यश निर्लिप्त जैनविद्या के निष्काम सेवक बाबू हरजसराय जी जैन : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

—सागरमल जैन
—उमेश चन्द्र सिंह

विश्व एक ऐसा रंगमंच है, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के अभिनय का पटाक्षेप हुआ करता है। शेष रह जाते हैं—जीवन के खट्टे-मीठे संस्मरण। मृत्यु एक जीवन का अन्त है, तो दूसरे का आदि बिन्दु। इसमें घटित अनेक घटनायें तो सामान्य हुआ करती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तियों की कार्य-शैली और जीवनादर्श ऐसे होते है कि वे युगों तक याद किये जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों में एक थे—लाला हरजसराय जी जिन्होंने अपने ९० वर्ष की सुदीर्घ जीवन-यात्रा में यश और शोहरत से निर्लिप्त रहकर मूल्यात्मक शिक्षा के समग्र विकास एवं उन्नयन हेतु निष्काम भाव से समाज सेवा की। परिवर्तन प्रकृति का नियम है। मानव जीवन में इसकी परिणति जरा और मृत्यु की क्रमबद्ध व्यवस्था के अधीन सहज एवं स्वाभाविक रूप से होती है। यद्यपि जन्म लेने वाले की मृत्यु स्वाभाविक है, किन्तु बाबू हरजसराय जी का निधन समाज को व्यथित कर गया। हालांकि आज वे हमारे बीच नहीं रहे, लेकिन उनके द्वारा किये गये कार्य और उनके जीवनादर्श हमारे समक्ष उनके सूक्ष्म शरीर के रूप में विद्यमान हैं। जैन समाज में विद्या के क्षेत्र में उनके द्वारा की गयी सेवाओं को निश्चित ही युगों तक याद किया जायेगा।

लाला हरजसराय जी का जन्म अमृतसर के प्रसिद्ध एवं सम्मानित परिवार में लाला जगन्नाथ जी जैन के यहाँ १३ अक्टूबर १८९६ ई० को हुआ था। यह परिवार अपनी समृद्धता तथा दानशीलता के लिए प्रसिद्ध रहा है। भाइयों की शृंखला में वे द्वितीय स्थान पर थे, जबकि लाला रतनचन्द जी इनके ज्येष्ठ भ्राता एवं लाला हंसराज जी कनिष्ठ भ्राता थे। उनके अग्रज लाला रतनचन्द जी बम्बई के भूतपूर्व शेरिफ श्री शादीलाल जी जैन के पिता थे। सन् १९११ में पन्द्रह वर्ष की अल्पायु में इनका विवाह श्रीमती लाभदेवी से हुआ, वे स्यालकोट के प्रसिद्ध हकीम लाला बेलीराम जी जैन की सुपुत्री थीं। लाला बेलीराम जी के सुपुत्र एवं श्रीमती लाभदेवी के भ्राता लाला गोपालचन्द्र जी जैन भारत विभाजन के पश्चात् पाकिस्तान में ही रहे और कालान्तर में अपनी योग्यता के कारण पाकिस्तान सरकार द्वारा सम्मानित किये गये।

"चन्दन विष व्यापत नहीं, लपटे रहत भुजंग" जैसी कहावत उनके जीवन में कितनी अधिक चरितार्थ हुई, इसका अन्दाज इसी से लगाया जा सकता है कि एक सफल व्यवसायी परिवार में जन्म लेने तथा अल्पवय में ही गृहस्थी में आबद्ध हो जाने के उपरान्त भी उन्होंने अपने शिक्षाक्रम को न केवल अबाध गति से जारी रखा, वरन् अमृतसर के जैन समाज के सर्वप्रथम स्नातक होने का गौरव भी प्राप्त किया।

शिक्षा के प्रारम्भिक स्तर में ही उनके व्यक्तित्व की प्रौढ़ता को देखकर यह उक्ति सहज ही याद आती है—"होनहार विरवान, के होत चीकने पात"। अध्ययन काल में उन्हें एक नियमित एवं अनुशासित जीवन अत्यन्त प्रिय था। कालेज जाने से पूर्व प्रातःकाल उठकर कमरे की सफाई करते तथा बिस्तर, मेज, कुर्सी एवं कमरे की समस्त वस्तुओं को सुव्यवस्थित करते थे। अध्यवसाय हेतु उनका निर्धारित समय था, जिसमें सामान्यतया परिवर्तन सम्भव न था। अनावश्यक समय की बरबादी एवं अर्थहीन वार्तालाप उन्हें प्रिय न थे। उनके सहपाठी तथा परिचित छात्र उनकी नियमित दिनचर्या, सहज स्वभाव, साफ-सुथरे एवं प्रसन्नचित्त व्यक्तित्व के कारण उन्हें बहुत पसन्द करते थे। कदाचित ही कोई दिन ऐसा बीता हो, जिस दिन सुबह एवं शाम की प्रार्थना में उन्होंने व्यतिक्रम आने दिया हो। अमृतसर से मैट्रिक तक की शिक्षा पूर्ण करने के बाद उन्होंने १९१५ में लाहौर के गवर्नमेण्ट कालेज से इण्टरमीडियेट स्तर की शिक्षा ग्रहण की, जहाँ वे साहित्य के विद्यार्थी बने। अपने जीवन के प्रारम्भिक काल से ही वे पूर्णतः शाकाहारी थे। इसी काल तक वे एक पुत्र के पिता भी बन चुके थे। लेकिन उन्होंने अध्यवसाय में ढिलाई नहीं आने दी। कक्षाओं की समाप्ति पर सायंकाल व्यायाम हेतु क्रीड़ा-प्रांगण में जाते थे, जहाँ उनका प्रिय खेल हॉकी था, उसका जमकर अभ्यास करते थे। इसके अतिरिक्त तैराकी, बोटिंग एवं स्काउटिंग में भी उनकी पर्याप्त रुचि थी।

इसी अनुक्रम में लालाजी ने १९१७ में इण्टरमीडियेट की परीक्षा उत्तीर्ण करके स्नातक बनने के लिए लाहौर के गवर्नमेण्ट कालेज में प्रवेश लिया। सन् १९१९-२० तक उन्होंने स्नातक की शिक्षा पूर्ण की। इस काल में भी उन्होंने जीवन-चर्या के लिए निर्धारित सिद्धान्तों में कोई कमी न आने दी। उनका प्रमुख ध्येय था—जीवन को पूर्णतः सादा एवं निर्दोष रखना, जिसके लिए वे जीवन पर्यन्त संघर्षरत रहे।

राष्ट्रभक्ति तो उनके नस-नस में समायी हुई थी, जिसके निमित्त वे विद्यार्थी जीवन से ही खादी वस्त्रों को धारण करते थे और धार्मिक तथा सामाजिक कुरीतियों को दूर कर राजनैतिक चैतन्यता लाने के लिए सोचते रहते थे। जिस समय वे अपना अध्ययन पूर्ण कर रहे थे, उस समय महात्मा गाँधीजी के आह्वान पर देश के कोने-कोने में सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं राजनैतिक अनाचारों तथा कुरीतियों को लेकर जनाक्रोश जागृत हो रहा था। राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने के लिए विदेशी वस्तुओं को बहिष्कृत कर स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग पर जोर दिया जा रहा था। इन सबका व्यापक प्रभाव लालाजी पर पड़ना स्वाभाविक था जिसके फलस्वरूप उन्होंने एक राष्ट्रसेवक के रूप में अपने आपको समर्पित कर दिया। खद्दर तो वे पहले से ही धारण करते थे। राष्ट्र की चेतनता हेतु वे शिक्षा को आवश्यक मानते थे। इस सन्दर्भ में उनकी मान्यता थी कि शिक्षा ही वह तत्व है, जो व्यक्ति को संस्कार सम्पन्न करने के साथ राष्ट्रीय चरित्र के उन्नयन में अग्रणी भूमिका निभा सकती है। शिक्षा के महत्त्व को हृदयंगम करते हुए उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति को विकसित करने के लिए सन् १९२३ में अमृतसर में श्रीराम आश्रम हाई स्कूल की आधार-शिला रखी। नारियों को शिक्षित करने के प्रति वे कितने संवेदनशील थे, इसका आभास श्रीराम आश्रम हाई स्कूल में प्रारम्भ की गयी सहशिक्षा से हो जाता है। वे मानते थे कि समाज में व्याप्त अंधविश्वास एवं कुरीतियों को जड़ से मिटाने के लिए पुरुष एवं स्त्री दोनों को शिक्षित करना अनिवार्य है, और यह शिक्षा व्यवस्था साथ-साथ सम्पन्न हो तो इसके दो प्रमुख लाभ हो सकते हैं। एक तो यह कि दोनों को एक-दूसरे को समझने का अवसर

मिल सकता है तथा दूसरे—उन्हें अपने बीच विभिन्न असमानताओं को कम करते हुए राष्ट्रीय धारा में कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने का साहस प्राप्त हो सकता है। इसीलिए वे इस स्कूल की स्थापना काल से लेकर सन् १९६६ तक सक्रिय रूप से इसके संचालन में लगे रहे, जब तक कि उनका परिवार स्थायी रूप से फरीदाबद आकर बस नहीं गया।

शिक्षा और साहित्य के प्रति कालान्तर में उनकी रुझान और प्रखर हो गयी, जब उन्होंने यह चिन्तन किया कि प्राचीन जैनधर्म, दर्शन एवं साहित्य के विविध पहलुओं का गम्भीर अध्ययन किया जाना चाहिए। अतः इस हेतु उन्होंने अपने मित्रों से परामर्श करके १९३६ ईस्वी में सोहनलाल जैनविद्या प्रसारक समिति, अमृतसर की स्थापना की। पुनश्च जैनविद्या के अध्ययन एवं शोध के विस्तृत आयामों को दृष्टिगत रखते हुए भगवान् पार्श्वनाथ की पुनीत जन्मस्थली काशी में सन् १९३७ में पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान की स्थापना की तथा जीवन पर्यन्त प्राणपण से इसका विधिवत् संचालन करते रहे।

जैनविद्या एवं प्राकृत भाषा के विकास में उनकी पर्याप्त रुचि थी। अपनी शैक्षिक प्रवृत्ति के कारण ही जहाँ उन्होंने इन दोनों शिक्षा-संस्थानों के संस्थापक बनने का गौरव प्राप्त किया, वहीं शतावधानी रतनचन्द्र जी म० सा० द्वारा तैयार किये गये अर्धमागधीकोश के निर्माण में भी योगदान दिया। इस कार्य में उन्होंने मुनि जी को प्राकृत शब्दों के अंग्रेजी पर्याय तलाशने में सहयोग प्रदान किया।

उन्होंने न केवल शिक्षा के माध्यम से ही राष्ट्र को योगदान दिया, अपितु सक्रिय रूप से राजनीति में भी हिस्सा लिया। १९२९ ई० की लाहौर कांग्रेस जिसके द्वारा राष्ट्रवासियों को सम्पूर्ण आजादी का नारा दिया गया था, में उन्होंने एक स्वयंसेवक बनकर सक्रिय कार्यकर्त्ता के रूप में कार्य किया। उनका जीवन प्रारम्भ से ही सामाजिक चेतना के लिए समर्पित रहा है। इस परिप्रेक्ष्य में संयोग से उनकी डायरी के कुछ पन्ने मिले हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि वे अपने जीवन के प्रारम्भिक काल से ही सामाजिक गतिविधियों में पर्याप्त रुचि लेते थे। सन् १९३७ में उनका सामाजिक सुधार को लेकर श्री आनन्दराज सुराना से जो कि उस समय 'अखिल भारतीय जैनसंघ सुधार-समिति' के सचिव थे, पर्याप्त पत्र-व्यवहार हुआ था।

स्काउट के क्षेत्र में उनकी रुचि विद्यार्थी जीवन में ही हो गयी थी। उनमें स्काउट की सेवा भावना का बीज जीवन के प्रारम्भ में ही अंकुरित हो चुका था, जो निरन्तर पुष्पित एवं पल्लवित होता रहा। स्काउटिंग के प्रति अपनी विशिष्ट अभिरुचि के कारण ही वे अमृतसर स्काउट एसोशियेशन के सदस्य बने। वे १९३३ में अजमेर के स्थानकवासी जैन साधु-सम्मेलन में सम्मिलित हुए थे और उन्होंने उस सम्बन्ध में अपना स्वतंत्र चिन्तन व्यक्त किया था। प्रमुख स्वतंत्रता सेनानी एवं सम्पूर्ण क्रान्ति के प्रणेता श्री जयप्रकाश नारायण से भी उनका निकटतम सम्पर्क रहा। समाज सेवा के कार्यों के सम्पादन हेतु उन्हें आपने पर्याप्त आर्थिक सहायता भी प्रदान की।

साहित्य के साथ-साथ ज्योतिष के क्षेत्र में भी उनकी रुचि उल्लेखनीय थी। पूज्य सोहनलाल जी म० सा० ने जो जैन पंचांग बनाया था, उसके सभी अंगों का न केवल उन्हें ज्ञान था, अपितु समाज में मान्यता प्राप्त करवाने के लिए उन्होंने अथक प्रयास किया था। यद्यपि यह दुःख के साथ

लिखना पड़ रहा है कि पूज्य श्री सोहनलाल जी म० सा० के स्वर्गवास के पश्चात् इस दिशा में आगे कोई प्रगति न हो सकी।

लालाजी का सामाजिक चिन्तन काफी व्यापक और उदार था। वे नितान्त परम्परावादी नहीं थे। वे लिखते हैं कि "यदि कोई व्यक्ति सामाजिक नियम के विरुद्ध किसी ऐसी स्त्री या पुरुष से सम्बन्ध जोड़ ले, जिसे समाज में महापाप समझा जाता है। वे प्रश्न करते हैं कि क्या यह पाप है? क्या ऐसा करना नरकगामी होने के लिए पर्याय है? सामान्य दृष्टि से यद्यपि ऐसा करना पाप समझा जाता है और इसे अनुचित माना भी जाना चाहिए; फिर भी उनकी दृष्टि में पाप और पुण्य की यह व्याख्या देश और काल सापेक्ष है। वे शास्त्रीय उदाहरण देते हुए कहते हैं कि यौगलिक काल में भाई-बहन परस्पर दाम्पत्य जीवन बिताते थे, किन्तु वे नरक न जाते थे और न उन्हें पापी ही माना जाता था। वस्तुतः उनकी दृष्टि में पाप-पुण्य का आधार कोई क्रिया या आचार का नियम विशेष नहीं था, अपितु व्यक्ति की दूषित या अदूषित मनोवृत्ति अथवा असंमय या संयम की भावना है।"

वे आगे लिखते हैं कि—"संयम मनुष्य-जीवन का अटल और सर्वकालिक नियम है। अतः यदि मनुष्य संयम का पालन नहीं करता है, तो उसकी यह क्रिया पाप बन जाती है और यदि संयम का पालन करता है तो वही क्रिया पुण्य बन जाती है। वस्तुतः पुण्य और पाप मनुष्य की जीवन-दृष्टि पर निर्भर हैं। सामान्यतया समाज के नियमों के अनुसार कोई विवाहित युगल यदि विषय-वासनापूर्ण दाम्पत्य जीवन व्यतीत करता है तो उसे बुरा नहीं समझा जाता है। इसके विपरीत सामाजिक नियमों के प्रतिकूल यदि कोई युगल संयम-पूर्वक दाम्पत्य-जीवन बिताता है, तो उसे बुरा समझा जाता है। किन्तु विचार करना चाहिए कि सम्भोग की क्रिया तो दोनों में एक ही है और उसका फल भी एक ही है। अतः होना तो यह चाहिए कि जो वासनारत है, असंयमी है, उसे पापी माना जाय और जो संयमी है, उसे पुण्यात्मा माना जाय।"

वस्तुतः व्यावहारिक जीवन का मुख्य आधार सयम को कार्य रूप में परिणित करने के लिए है। संयम के लिए ही समाज, धर्म और विवाह की व्यवस्था हुई है। व्यावहारिक जीवन पूर्ण संयम तक पहुँचने के लिए रखा गया अंकुर है। अतः गृहस्थ जीवन में यदि पति-पत्नी में संयम है तो वे ब्रह्मचारी हैं और इसीलिए गृहस्थ जीवन में ऊँचे से ऊँचे उठने की सम्भावना बनी हुयी है। यह चरित्र के गठन का सम्यक् अवसर है और पूर्ण संयम को दिशा में बढ़ा हुआ एक कदम है। वस्तुतः व्यक्ति के जीवन को कोई नारकीय बनाता है, तो वह हैं—विलासिता, स्वार्थपरता एवं उद्दाम काम-वासना, न कि पारिवारिक जीवन। पारिवारिक जीवन तो संयम की साधना का एक सुन्दर अवसर है।

पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में लालाजी कितने सजग थे, इसका भी उदाहरण उनकी डायरी में मिल जाता है। वे लिखते हैं कि "कन्याओं से मेरी प्रार्थना है कि वे सयानी होकर गृहस्थ बनें, तो ससुराल की आर्थिक व्यवस्था बहुत अनुकूल न होने पर घबड़ायें नहीं, अपने पति से उलझे नहीं, अपने पति का मन से भी निरादर न करें, अपितु उसके प्रति श्रद्धा और प्रेम का भाव रखें। प्रेमपूर्वक उसे उत्साहित करें और आर्थिक उन्नति के मार्ग को सुगम बनायें। पति के संकोच, भय, निराशा और निरुत्साह को अपने प्रेममय व्यवहार से दूर करें। उसे न लज्जित करें और न दूसरों को उसे लज्जित करने दें। दूसरों के सामने उसको ढाल बनें। घर-बाहर प्रत्येक अवस्था में उसकी कमाई में स्वतन्त्रता और सन्तोष प्रदर्शित करें।"

इसी भावना का प्रदर्शन उन्होंने पुरुषों के लिए भी किया है। वे लिखते हैं कि "मनुष्यों को चाहिए कि अपनी धर्मपत्नियों पर विश्वास, श्रद्धा, प्रेम और भक्ति बनाने रखें। उनकी मान-मर्यादा, उनके सुख और आराम तथा उनकी हार्दिक अभिलाषाओं की यथाशक्ति पूर्ति का निरन्तर ध्यान रखें। उनसे ऐसा प्रेममय सम्पर्क करें, जैसा उन्होंने कभी किसी उपन्यास, नाटक या काव्य में पढ़ा हो और उसकी इच्छा उनके मन में उत्पन्न हुई हो।"

उपर्युक्त उद्धरणों से यह प्रतिभाषित होता है कि उनमें व्यक्ति और उसके पारिवारिक जीवन को सुखद और समृद्ध कैसे बनाया जाय, इस सम्बन्ध में वे सजग रहे। उन्होंने अपने परिवार में इन गुणों को विकसित करने का पूरा प्रयत्न किया। इसी का परिणाम है कि आज उनके संयुक्त परिवार में जिसकी सदस्य संख्या २५० के आसपास है, पूर्ण सामंजस्य और चरित्र-निष्ठा है। उनके परिवार ने न केवल आर्थिक क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति की, अपितु समाज में प्रतिष्ठा और सम्मान भी अर्जित किया। उनके भतीजे श्री शादीलाल जी और उनके पुत्र श्री नृपराज जी की सामाजिक प्रतिष्ठा से सभी परिचित हैं।

पारिवारिक दायित्वों के प्रति ये रूढ़िवादी न थे। जहाँ एक ओर वे संयुक्त परिवार की गरिमा बनाये रखने में प्रत्येक सदस्य का सहयोग-अपेक्षित मानते थे, वहीं उनका विचार था कि परिवार के प्रत्येक व्यक्ति को उसकी मनःस्थिति के अनुसार स्वतन्त्र कार्य सम्पादन की भी पूरी छूट मिलनी चाहिए। इसका एक बड़ा साफ उदाहरण उन्हीं के जीवन से मिल जाता है। स्नातक बनने के उपरान्त जब वे घर आये, तो कई वर्षों तक अपने पूर्वजों द्वारा निर्मित मकान में ही परिवार के अन्य सदस्यों के साथ रहे, लेकिन धीरे-धीरे परिवार बड़ा होने पर उन्हें वह घर छोटा लगने लगा। अतः उन्होंने पिताजी से इस सम्बन्ध में सलाह ली, लेकिन उनके चाचाजी शायद ऐसा नहीं चाहते थे। अतः लालाजी चाचाजी की आज्ञा की भी अवमानना नहीं करना चाहते थे। आगे चलकर उनके संयुक्त परिवार में सदस्य संख्या अधिक हो गयी थी, जिसके कारण एक ही घर में रहने पर सबकी कार्यक्षमता पर भी असर पड़ता था। इन सब तथ्यों की तरफ ध्यान आकृष्ट कराकर पिताजी से उन्होंने अलग मकान लेने की आज्ञा प्राप्त कर ली। लालाजी के इस कृत्य से एक बात तो पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है कि वे विचारों के मामले में बिल्कुल साफ एवं खुले हुए थे, लेकिन पारिवारिक सदस्यों की मर्यादा का पालन करना भी जानते थे।

इतना सब कुछ होते हुए भी स्नातक बनने के उपरान्त उन्होंने अपने पैतृक व्यवसाय को ही अपनाना ज्यादा उचित समझा। जिस प्रकार शिक्षा एवं समाज-सुधार कार्यक्रमों के कारण उन्होंने समाज में एक सम्मानजनक स्थान प्राप्त किया, उसी प्रकार व्यवसाय के क्षेत्र में भी उनके समकालीन व्यवसायी उनकी इस प्रतिभा का लोहा मानते थे। यद्यपि व्यवसाय के सम्बन्ध में उनके विचार बड़े ही स्पष्ट थे। वे कहा करते थे कि "हम परम्परागत व्यवसायों की अपेक्षा उद्योगों के माध्यम से सकल राष्ट्रीय उत्पादन एवं पूंजी विनियोग में राष्ट्र को सहयोग दे सकते हैं और आर्थिक क्षेत्र में व्याप्त असमानता (अन्य देशों की तुलना में) को शीघ्र ही कम कर सकने में सफल हो सकते हैं।"

अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण उन्होंने उद्योगों को प्राथमिकता दी। यदि हम कहें कि फरीदाबाद को औद्योगिक नगरी के रूप में विकसित करनेवाले जो कुछ थोड़े से उद्योगपति हैं, उनमें लालाजी एवं उनके परिवार का योगदान अग्रगण्य ही माना जायेगा, तो कोई अत्युक्ति न होगी। उनके संयुक्त

परिवार द्वारा स्थापित औद्योगिक संस्थानों में न्यूकेम प्लास्टिक्स लि०, न्यू वेयर इण्डिया लि०, एक्सिस केमिकल्स एवं फार्मास्यूटिकल्स लि०, न्यू फार्मा केमिकल्स आदि उल्लेखनीय हैं।

इन सबके बावजूद उनके जीवन का एक और भी पहलू था, जो नितान्त दार्शनिकता से ओत-प्रोत था। वे अपने इर्द-गिर्द घटित होनेवाली घटनाओं के सन्दर्भ में इतना अधिक चिन्तन करते थे कि वह एक दार्शनिक मीमांसा बन जाता था।

संयोगवश उनके जीवन-दर्शन को समझ सकने में उनकी डायरी के पन्ने हमें मार्गदर्शन दे सकते हैं। वे लिखते हैं कि "हिन्दुओं को इस एक ही जन्म पर विश्वास नहीं है। उन्हें विश्वास है कि आत्मा अपनी उन्नति के मार्ग में कई बार जन्म धारण करेगी। इसलिए किसी विशेष जन्म में न तो इतना मोहान्ध ही होना चाहिए और न निराश ही, क्योंकि आत्मविकास के अनेक अवसर मिलते हैं। मृत्यु उन्हें कभी एक ऐसा अन्त जो सदैव के लिए विकास के अवसर हमारे हाथ से छीन ले, प्रतीत नहीं हुआ। शरीर ही तो अनित्य है, आत्मा नहीं। जिसका स्वभाव ही बदलते रहना है, तो फिर उससे इतना मोह भी क्यों। भारतीयों ने मृतक शरीर को जलाने की जो प्रथा निकाली, वह कई कारणों से अभीष्ट है। भारतीयों को मृतक शरीर से न तो मोह था, और न इस जीर्ण शरीर की कोई आवश्यकता।"

उनके व्यक्तिगत अनुभव ही इतना कुछ कह जाते हैं कि जो एक व्यथित एवं निराश व्यक्ति के जीवन में पुनः आशा की ज्योति जगा सकने हेतु पर्याप्त हैं। वे अपनी डायरी में यह भाव व्यक्त करते हैं कि "संसार विचित्रताओं से भरा पड़ा है, यह अपार है, अथाह है। इसमें कोई भी घटना और अवस्था असम्भव नहीं। स्वयं जैसा करोगे, वैसा पाओगे। अतः किसी भी घटना से घबराओ नहीं, क्योंकि यहाँ सब कुछ सम्भव है। अतः जो कुछ भी परेशानी है, वह व्यक्ति की अज्ञानता और संकीर्णता के कारण है।" इसलिए वे परेशान व्यक्ति को इन अज्ञानताओं एवं संकीर्णताओं से ऊपर उठने की सलाह देते हुए लिखते है कि "स्वयं प्रसन्न रहो, गरीबी हो, अमीरी हो, सुख हो, दुख हो हंसो-हंसाओ तो तुम सुखी होगे और संसार तुम्हें सुखद ही प्रतीत होगा।"

परम्परागत रीति-रिवाजों में भी उन्हें यदि कोई विशेष बात दिखायी पड़ती, तो उस पर चिन्तन करते और लिखने से लेखनी को रोक न पाते। हिन्दुओं और मुसलमानों के त्यौहारों की तुलना करते हुए वे लिखते हैं कि "हिन्दुओं का कोई त्योहार हो, वह आनन्दोत्सव के लिए होता है। हम जन्म दिवस तो आनन्द के साथ मनाते ही हैं, पर मृत्यु दिवस भी आनन्द का ही विषय है। मृत्यु सदैव के लिए अन्त नहीं। मृतक व्यक्ति हमारे लिए सदा के लिए खो नहीं गया। यह तो जीर्ण शरीर का जीर्ण वस्त्रों की तरह परिवर्तन है। अतः मृत्यु के अवसर पर भी आनन्दोत्सव मनाया जाना चाहिए। मृत्यु कोई भय नहीं, वह अवश्य आती है। हमारे बड़े धर्मनेता हो चुके हैं, जिनकी मृत्यु कई प्रकार के दुःख और कष्ट से हुई है; परन्तु हम कभी भी उनको उस अवस्था को दुःख और पीड़ा का आवरण नहीं पहनाते। मृत्यु भी हमारे लिए उत्सव या आनन्द मनाने का दिवस है, शान्ति का अद्भुत अवसर।"

भारतीय संस्कृति की आत्मसात करने की प्रवृत्ति पर उनकी लेखनी कितनी मुखर हुई है। वे लिखते हैं कि "हिन्दुओं के अबतक जिन्दा रहने का एक कारण यह भी है और जो सबको ज्ञात है—यह है हमारी समन्वयशीलता। सदैव से ही हिन्दुस्तान में नये-नये लोग आक्रमणकारी अथवा

अन्य रूपों में यहाँ आकर बसते रहे हैं। वे अपने-अपने विचार और धर्म साथ लाते रहे हैं, किन्तु यहाँ आकर वे सभी एक-दूसरे से घुल-मिल गये। यहाँ का प्रभाव उनको हिन्दू बनाता रहा है। हजार वर्ष की पराधीनता के उपरान्त भी हमारी संस्कृति जीवित है, कारण यही है कि हममें आशा, सरलता, दृढ़ता, पवित्रता, कार्य क्षमता एवं अवसर के साथ अनुकूलन के गुण सदैव रहे हैं।"

अपने एवं परिवार के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में वे पहले से ही बहुत सतर्क रहते थे। अपने बाल्यकाल से ही वे सुबह-शाम नियमित प्रार्थना करते थे। प्रत्येक कार्य करने का उनका समय निश्चित होता था। वे समुचित व्यायाम आदि करते थे और अपने परिजनों को इस हेतु प्रेरित करते थे। दाँतों की सुरक्षा के सम्बन्ध में उनके विचार कितने अनुकरणीय हैं। वे लिखते हैं कि "दाँतों के मसूढ़ों पर कुछ जोर से अंगुली फेरा करो और ऊपर के मसूढ़ों पर उसे इस प्रकार फेरो कि वह मसूढ़ों से नीचे के दाँतों की ओर आये और नीचे के मसूढ़ों पर इस प्रकार अंगुली फेरो कि वह फेरते समय ऊपर दाँतों की तरफ जाये। जोर से अंगुली फेरने का तात्पर्य यह नहीं कि मसूढों पर अत्यधिक दबाव डाला जाय। परन्तु इतना अवश्य है कि कुछ दबाव अवश्य पड़े, जिससे मसूढ़ों के अन्दर कोई स्थान पोला पड़ने वाला हो, वह न पड़े। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि बहुत जोर से दबाने पर मसूढ़ों के वे स्थान जो दाँतों को पकड़ कर रखते हैं, शक्तिहीन हो सकते हैं। अतः दाँतों के लिए समुचित व्यायाम करना ही उचित है। इसके लिए मसूढ़ों की मालिश करते रहना, गन्ने आदि को दाँतों से छीलकर खाना आदि उपयोगी होते हैं। दाँतों के संबंध में यह ध्यान रखना चाहिए कि अति गरम और बर्फ आदि अति ठंडे पदार्थ उनके लिए शत्रु हैं। दातों का जीवन में कितना महत्व है, वे स्पष्ट करते हैं कि यदि मुँह में दाँत नहीं हैं, तो न भोग सुखदायक होगा, न भोजन में स्वाद आयेगा, न चेहरे का सौन्दर्य हो रहेगा।" उनका यह लेखन इस बात का प्रतीक है कि वे स्वास्थ्य सम्बन्धी छोटी से छोटी बात के लिए कितने संवेदनशील थे।

लालाजी न केवल अपने या अपने परिवार के प्रति सतर्क रहते थे, अपितु सामान्य जनता के रोग भी उन्हें अन्दर तक मर्माहत कर जाते थे। इसीलिए उन्होंने फरीदाबाद में अपने पुत्रों के साथ मिलकर जीवन-जगन चेरिटेबल ट्रस्ट की स्थापना की, जो आज होम्योपैथी चिकित्सा पद्धति से सामान्य जनता के कष्टों का निवारण करने में समर्थ है।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि श्री लाला हरजसराय जी ने वह सब कुछ किया, जो संसार में अंगुलियों पर गिने जा सकने वाले लोग किया करते हैं। उन्होंने बिना किसी नाम और यश की कामना से, निष्काम भाव से समाज सेवा की। हमें यह कहने में बड़े ही गर्व का अनुभव हो रहा है कि लालाजी उन गिने-चुने व्यक्तियों में से थे, जिनको सरस्वती और लक्ष्मी का वरद उपहार साथ-साथ प्राप्त था। इतना सब कुछ होते हुए उन्होंने अपना समूचा जीवन एक विद्या प्रेमी एवं समाज सेवी के रूप में व्यतीत किया। वे एक ऐसे व्यक्तित्व के स्वामी थे, जिनके अथक परिश्रम एवं मूकसेवा से पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के रूप में एक ऐसी संस्था का विकास हुआ, जो उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का जीवन्त स्वरूप है और जिसके कारण वे जैन विद्या के उन्नयन में लगे व्यक्तियों में अग्रगण्य माने जा सकते हैं। सामाजिक कार्य सम्पन्न करते हुए भी आर्थिक मुद्दों पर उनकी सतकर्ता दर्शनीय थी। निश्चित नियमों का अनुपालन करते हुए शोहरत की अपेक्षा से रहित कर्म में तल्लीनता ही उनके जीवन का बीजमन्त्र रहा है। सम्बन्धित संस्थान की रद्दी की टोकरी का एक टुकड़ा भी

उनके काम न आये, इसके लिए वे न केवल स्वयं चैतन्य रहते थे, अपितु अपने पारिवारिक सदस्यों एवं इष्ट-मित्रों को भी सचेत एवं सावधान करते रहते थे।

वस्तुतः लालाजी का समूचा जीवन एक खिलाड़ी का सा था, जिसमें हार का मतलब होता है, जीतने के लिए पूर्व से भी अधिक अभ्यास करना। उनकी इसी प्रवृत्ति ने उन्हें ऐसा व्यक्तित्व प्रदान किया, जिसके बलपर उन्होंने हर क्षेत्र में सफलता को कदम चूमने हेतु विवश किया।

उनके भरे-पूरे परिवार में कुल ६ पुत्र और दो पुत्रियों ने जन्म लिया। इनमें श्री सुबुद्धिनाथ एवं प्रथम पुत्र श्री अमरचन्द्रजी जैन क्रमशः १९५८ एवं १९८५ में स्वर्गवासी हो गये। शेष चार पुत्र श्री भूपेन्द्रनाथजी जैन, श्री विद्याभूषणजी जैन, श्री रमेशचन्द्र बरार एवं श्री कैलाशचन्द्रजी जैन अपने पूज्य पिता के नक्शे- कदम पर ही चल रहे हैं। उनके पुत्रों में वरीयता क्रम के अनुसार दूसरे श्री भूपेन्द्रनाथजी जैन सामाजिक और शैक्षणिक गतिविधियों में न केवल प्राणपण से कार्यरत हैं, अपितु वर्तमान में पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के सचिव का महत्तर पद बड़ी ही निष्ठा और कुशाग्रता के साथ संभाले हुए हैं। लालाजी के बड़े भाई लाला रतनचन्दजी के पौत्र और श्री शादीलालजी के पुत्र श्री नृपराज एस० जैन जो पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान की संचालक समिति के उपाध्यक्ष भी हैं, अपने दादाजी की कृति पार्श्वनाथ विद्याश्रम के सम्यक् विकास हेतु सदैव सक्रिय योगदान देते हैं; आज वे समग्र जैन समाज की प्रतिनिधि एवं अखिल भारतीय संस्था "भारत जैन महामण्डल" के अध्यक्ष भी हैं।

उनके परिवार की सेवाभावना का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उनके निधनोपरान्त उनके द्वारा स्थापित की गयी शैक्षणिक एवं सेवा संस्थाओं की निरन्तर प्रगति हेतु उनके परिवार ने उनकी स्मृति में सेवा और शिक्षा के लिए २५ लाख रुपये के एक चेरिटेबल ट्रस्ट का निर्माण करने का संकल्प लिया है। यह निश्चित ही उनका एक प्रशंसाजनक कदम है।

यद्यपि आज हमारे बीच लालाजी का स्थूल शरीर विद्यमान नहीं है, लेकिन पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान के कण-कण में व्याप्त उनका सूक्ष्म शरीर उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की कहानी कह रहा है। आज समाज का दायित्व हैं कि उनके द्वारा संस्थापित जैन विद्या के उच्चतम अध्ययन केन्द्र, पार्श्वनाथ विद्याश्रम को विकसित एवं समुन्नत करने में मनसा, वाचा, कर्मणा सहयोग दें।

अन्त में हम इतना ही कहना चाहेंगे कि लालाजी ने जिस ज्ञानदीप को भगवान् पार्श्वनाथ की पावन नगरी में प्रज्ज्वलित किया है, उसको ज्ञानरूपी द्वीप-शिखा सदैव आलोकित रहे यही उनकी स्वर्गस्थ आत्मा के प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी।

●

सन्निष्ठ कार्यकर्ता लाला श्री हरजसराय जी

—दलसुखभाई मालवणिया

ता० २०-६-८६ को तार मिला कि ता० १८-६-८६ को श्री लाला हरजसराय जी का अवसान हो गया। यद्यपि पिछले कुछ वर्षों से वे बीमार तो थे, किन्तु हालात तो ऐसे ही थे कि वे शतायु होंगे। किन्तु हमारी शुभेच्छा और नियति में मेल नहीं। वे ९० वर्ष की आयु में चल दिये।

लाला हरजसरायजी के बड़े भाई लाला रतनचन्दजी से तो मेरी मुलाकात बम्बई में १९३४ में ही हो गई थी। उनको लोग पंजाब का शेर कहते थे। स्थानकवासी कान्फरेन्स में उनका जो रूप देखा वह शेर का ही था। उनके मन में जो जँचे वह बिना किसी हिचक के कह देते थे—और अपनी बात पर वे अटल भी रहते थे। मालूम हुआ कि उनका कुटुंब ही ऐसा था कि जो भो उचित हो उसका समर्थन करना—अनुचित का अनुसरण नहीं करना। जब उनके बड़ों को मालूम हुआ कि मोती प्राप्त करने में बड़ी हिंसा होती है तो अपनी कमाई का विचार किये बिना तत्काल ही मोती का व्यापार छोड़ दिया। ऐसा साहस आज के व्यापारी में दुर्लभ है किन्तु यह सत्य घटना है। ऐसे ही थे लाला रतनचन्दजी के बेटे श्री शादीलाल जी। वे जब बम्बई के शरीफ बने तब कई तरह की पार्टियां देने का अवसर आया, किन्तु कभी भी मांस का उपयोग उन्होंने पार्टी में नहीं किया। ऐसे कुटुंब में जन्मे लाला हरजसराय जी लाला रतनचन्द जी के छोटे भाई थे, तो कुटुंब के संस्कार उनमें होना स्वाभाविक था। कुटुंब की जैन भावना तो उनमें थी ही, उसमें मिले आर्य समाज के विचार और राष्ट्रीय विचार धारा। तब लाला हरजसराय का जीवन एक उच्च सज्जन का होना स्वाभाविक ही था। उनको नई शिक्षा का महत्व ज्ञात था। स्वयं बी० ए० तक पढ़े थे। शिक्षा के विषय में आर्य समाज के नये विचार का प्रभाव उन पर पड़ा और उन्होंने अमृतसर में 'रामाश्रम' के नाम से एक उच्च आदर्शों को लेकर लड़कों और लड़कियों के स्कूल की स्थापना ई० सन् १९३३ में की और जब तक अमृतसर रहे तब तक उसका सुचारु रूप से संचालन करते रहे। जब फरीदाबाद आये तो मंत्री पद छोड़ दिया।

मेरा और उनका प्रथम परिचय १९३७ में बनारस में हुआ। अमृतसर का एक प्रतिनिधि-मण्डल शिक्षा संस्था की स्थापना की बात लेकर बनारस पण्डित श्री सुखलालजी के पास आया था। उसमें लाला हरजसरायजी ही मुख्य थे। उनको और उनके साथियों को पंडित जी की यह बात—"स्थानकवासी समाज में विद्या की आराधना देखी नहीं जाती, तो आप कुछ उसके लिए करें और स्थानकवासी समाज को विद्या के लिए कुछ करना हो तो बनारस से बढ़कर कोई स्थान हो नहीं सकता", जँच गई। उन सभी ने एकमत से निश्चय किया कि बनारस में पूज्य श्री सोहनलालजी की स्मृति में 'पार्श्वनाथ विद्याश्रम' के नाम से संस्था की स्थापना की जाय। आज हम देखते हैं कि यह संस्था जैन समाज की एक प्रतिष्ठित संस्था बन गई है। इसमें श्री लाला हरजसरायजी का जो योगदान रहा है, वह सदैव विद्वानों को याद रहेगा। जब तक स्वस्थ रहे, वे इस संस्था के मंत्री बने रहे और उसकी समस्याओं का हल जिस सहज बुद्धि से करते रहे, उसका मैं साक्षी हूँ।

अनेक बार मतभेद हुए किन्तु निपटाने की उनकी जो युक्ति थी उसके कारण उनसे किसी का मतभेद रहे ऐसा मैं नहीं जानता। अत्यंत सज्जन और न्याय परायण ऐसे व्यक्ति का दर्शन दुर्लभ है।

संस्था के संचालन में अर्थ की आवश्यकता होती है। उसका जुटाना एक कठिन कार्य होता है। अर्थ व्यवस्था उनका कुटुम्ब और कुटुम्ब से संलग्न अन्य परिवार कर सकने में समर्थ थे, किन्तु उनका विचार था कि यह संस्था समाज की है और समाज का भी सहयोग उनमें होना जरूरी है—ऐसा वे मानते थे। अतएव स्थानकवासी समाज के पंजाबी कुटुम्बों में घर-घर जाकर वार्षिक तीस रुपये जैसी रकम वे एकत्र करते रहे। संपन्न परिवार के होते हुए भी उनको इस कार्य में कोई संकोच नहीं था। इस तरह उनके कुटुम्बों को उन्होंने संस्था से संलग्न कर दिया था।

शिक्षा के क्षेत्र के अलावा १९२९ से ही राष्ट्रीय विचारधारा से भी वे प्रभावित थे और खादी पहनना स्वीकार किया था। उन्हें कोई पद की इच्छा नहीं थी, किन्तु ठोस कार्य में रुचि थी। अतएव जिस संस्था को उन्होंने बनाया उसी में पूरा समय देते रहे। फिर भी उनका नाम उनके कार्य के कारण रोशन होना स्वाभाविक था। अतएव हम देखते हैं कि ई० १९४१ में स्था० जैन युवक कान्फरेन्स के प्रमुख बने।

होली के दिनों में वे अपने मित्रों के साथ बनारस आते और विद्याश्रम के छात्र और अधिकारी तथा युनिवर्सिटी के अध्यापकों के साथ होली खेलते। इस तरह उन्होंने विद्याश्रम के साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया था।

पूज्य शतावधानी रत्नचन्द जी का चातुर्मास अमृतसर में हुआ तब उनके परिचय में आये। तब वे जो अर्धमागधी कोष बना रहे थे, उसमें शब्दों का अंग्रेजी रूपान्तर करने में वे सहायक बने। पूज्य सोहनलाल जी को अंग्रेजी अखबार पढ़कर सुनाने का काम भी उन्होंने किया।

उनका अपना परिवार बहुत बड़ा था। उनके छः पुत्र और तीन पुत्रियां हुईं। उनके रहते, उनमें से दो पुत्र चल बसे लेकिन उनकी धार्मिक परिणति ऐसी थी कि एक बात ही कहते थे कि मुझे जाना था और वे चले गये। जो कुछ कष्ट आवे उसे सद्बुद्धि से सहन करना उनका स्वभाव बन गया। उनकी पत्नी श्रीमती लाभदेवी का भी अवसान सन् १९६० में ही हो गया था। किन्तु उनके परिवार ने उन्हें प्रेम से संभाला।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम का भार उनके द्वितीय पुत्र श्री भूपेन्द्रनाथ जी अच्छी तरह संभाल रहे हैं और उनका अभाव खटकता नहीं, ऐसी निष्ठा से श्री भूपेन्द्रजी कार्य कर रहे हैं।

अहमदाबाद–९

बाबू हरजसरायजी : एक प्रामाणिक व्यक्तित्व

—गुलाबचन्द जैन

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के निर्माण में बाबू हरजसरायजी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। श्री सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति की स्थापना के उपरान्त इसके कार्यक्षेत्र को विस्तृत रूप देने के लिए आपने कुछ मित्रों की सलाह तथा शतावधानी मुनि श्री रतनचन्दजी म० सा० के आदेश से आपने पं० सुखलालजी से बनारस में सम्पर्क स्थापित किया। पण्डित जी के निर्देशन के आधार पर समिति ने जैनविद्या के विकास एवं प्रचार-प्रसार को अपना मुख्य लक्ष्य बनाया तथा उन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति हेतु विद्यानगरी काशी में १९३७ में पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान की नींव डाली। समिति को प्राप्त दान के अतिरिक्त श्री हरजसरायजी ने इस पुण्य कार्य में व्यक्तिगत रूप से काफी आर्थिक सहयोग प्रदान किया।

बाबू हरजसरायजी से मेरा प्रथम परिचय उन्हीं के सुयोग्य भतीजे लाल शादीलालजी के माध्यम से स्व० व्याख्यान वाचस्पति श्री मदनलालजी म० के सान्निध्य में दिल्ली में हुआ था। दिनों-दिन यह सम्बन्ध प्रगाढ़ होता गया, फिर तो उनके साथ पार्श्वनाथ विद्याश्रम के कोषाध्यक्ष के रूप में वर्षों कार्य करना पड़ा। मैंने पाया कि लालाजी स्वभाव से अत्यन्त मृदु, अल्पभाषी और सङ्कोची हैं। किन्तु कर्तव्यनिष्ठा और लगन उनमें कूट-कूट कर भरी हुई है। आपने समाज सेवा तो की, किन्तु नाम की कोई कामना नहीं रखी, सेवा का ढोल कभी नहीं पीटा। अलिप्त और निष्काम भाव से सेवा करना ही उनके जीवन का मूल मन्त्र रहा है। सामाजिक संस्थाओं में कार्य करते हुए भी आर्थिक मामलों में सदैव सजग और प्रामाणिक रहना उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। संस्था का एक कागज भी अपने निजी उपयोग में न आये इसके लिए न केवल स्वयं सजग रहते, बल्कि परिवार के लोगों को भी सावधान रखते। लालाजी केवल विद्याप्रेमी ही नहीं हैं, अपितु स्वयं विद्वान् भी हैं। यह बात सम्भवतः बहुत कम लोग ही जानते हैं कि शतावधानी पं० रतनचन्दजी म० सा० द्वारा निर्मित अर्धमागधी कोष के अंग्रेजी अनुवाद का कार्य स्वयं लालाजी ने किया था।

यह इन्हीं के परिश्रम का मीठा फल है कि पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान जैनधर्म और जैनविद्या की निर्मल ज्योति फैला रहा है।

उनकी तपस्विता एवं निष्काम सेवावृत्ति से हम लोगों को सतत् प्रेरणा मिलती रहे।

दिल्ली

श्री हरजसराय जैन : एक समर्पित व्यक्तित्व

—हरीशचन्द्र जैन

कुछ बातें असम्भव नहीं तो कठिन जरूर होती हैं—श्रीमंत होकर भी सादगी में जीना, सहायता के लिए नौकर-चाकरों के रहते भी हर काम खुद निबटाना और संसार में रहते हुए भी संसार की मोह माया से निर्लिप्त होकर जीना। ऐसे व्यक्ति में ज्ञान, चरित्र और सेवा का संगम होता है। ऐसा ही व्यक्ति धर्म तथा समाज के लिए कुछ ठोस कर पाता है।

श्री हरजसराय जी से मेरा परिचय सन् १९३७-३८ से है। वे व्यापार के सम्बन्ध में अक्सर बम्बई आते और मेरे पूज्य पिता श्री जगन्नाथ जी जैनी के पास रहते। मैंने उन्हें सामान्य तड़क-भड़क से दूर हमेशा खादी के निर्मल वस्त्रों में ही देखा है।

इस बीच अक्सर उनसे लम्बी चर्चाएँ होतीं। शायद ही कोई ऐसा विषय हो जिस पर वे अधिकारपूर्वक नहीं बोलते। सामान्य घर-गृहस्थी से सम्बन्धित विषयों से लेकर तारामण्डल व ग्रह-नक्षत्रों तक। परन्तु हर बार चर्चा सिमट कर श्री सोहनलाल जैन विद्या प्रसारक मण्डल एवं पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान पर आ जाती। उसके विकास की चिन्ता उन्हें हर समय सताये रहती और मैं मानता हूँ कि उसी चिन्ता का परिणाम है कि आज पार्श्वनाथ विद्याश्रम जैन-विद्या का विश्व प्रसिद्ध शोध संस्थान है।

मैंने अधिक समय उन्हें समिति या विद्याश्रम के कार्यों में ही लगा पाया है। संस्था की प्रगति धीमी न हो, इसके लिए उन्होंने एक-एक दिन में ५०-५० पत्र तक अपने हाथ से लिखे हैं।

परन्तु कार्य में तल्लीनता के बावजूद स्वभाव में विरक्ति उनकी विलक्षणता है। मुझे मालूम है, परिजन के विछोह के समय भी वे सामान्य व्यक्ति की तरह जगत् की असारता पर चर्चा नहीं करते; बल्कि घटना से निर्लिप्त हो कर्म में तल्लीन रहते। शायद गीता में ऐसे ही व्यक्ति के लिए 'कर्मण्ये बाधिकारस्ते....' की बात कही गई है।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम, श्रीरामाश्रम हाईस्कूल, होम्योपैथिक चिकित्सालय आदि शिक्षा एवं सेवा के उनके रोपे गये पौधे वटवृक्ष का आकार लें, यही कामना है।

खार, बम्बई

LALA HARJAS RAI : LIFE AND IDEALS

S. L. Khanna

It has given me immense pleasure to learn that P. V. Research Institute, Varanasi, is planning to bring out 'Shri Harjas Rai Commemoration volume. That I should be called upon to record my reminiscences of my association with Harjas Rai, gives me added pleasure and I consider it a privilege.

One is tempted to use superlatives when one writes about men of the calibre and stature of Harjas Rai that such men as he still lived in our midst, must be regarded as a blessing.

I came in contact with Harjas Rai, for the first time, way back in 1915, when he, from Amritsar and I, from Wazirabad (Pakistan) migrated to Lahore (Pakistan) to join the Govt. college for further studies after Matriculations.

Both of us were outstation students so we sought accomodation in the boarding house commonly known as 'The Quadrangle'. Harjas Rai was allotted a seat in dormitory number 1 and I got one in the contiguous dormitory number 2. Each dormitory accomodated eight students in those days. Harjas Rai was a vegetarian and because I was a non-vegetarian, we joined different messes. He had taken up Arts and I had taken up Science subjects. Our contact during the first two years, therefore was limited to only two periods of studies a day at college. After college hours however, we were invariably together every evening playing Hockey at the playground, close to the hostel. We were both keen players but not good enough to be inducted into the college eleven. Both of us were gifted with powerful vocal chords and we made full use of the same, urging coaxing our playmates to mount an assault on the opponents goal.

After passing the Intermediate examination in 1917, I also took up Arts subjects in common with Harjas Rai and as luck would have it, we were both accomodated with two more students in the same room in college hostel known as 'Sheesh Mahal'. We stayed together in this hostel

for full one year and this gave us the opportunity to get to know each other from close proximity. I felt drawn to him because he possessed qualities of head and heart that endeared him to one and all. He led a well regulated disciplined life. Before going to college in the morning he will leave his bed, his table and other belongings arrayed and arranged in proper order, spick and span. He had fixed hours of study and did not believe in wasting time in idle gossip. He never missed to say his prayer before slipping into bed at night and before leaving the bed in the mornings. His sense of tidiness has stuck to him throughout his life.

Students respected him for his sobriety, affable manners and cheerful disposition so much so that he earned the appellation of 'Taya)—senior uncle. Otherwise too he deserved this title because he was a married man and was the father of a son by that time ! In the fourth year of our studies at the college, we were again allotted accommodation in the Quadrangle. But this time we were in individual cubicles. Even so, because we were studying the same subjects and our interests were common in sports like Hockey, swimming and boating, we spent longer hours in each others' company.

After graduation from Govt. college, Lahore, Harjas Rai went back to Amritsar to join his family business in Guru Bazar, under the guidance of his respected father and in partnership with his brothers, one elder and the other younger to him. Here he was lovingly called Babu Harjas Rai, possibly because of his high education.

I stayed on in Lahore for another two years studying law in Law College. We used to visit each other occassionally and I thus got to know his brothers and father.

At the conclusion of my studies, I took up service in the Police department where I was entrusted with the task of conducting Police cases in Courts. My postings took me to different district towns like, Lyallpur, Sheikhupura, Ambala, Ludhiana, Sargodha and Rawalpindi etc. Distances did not make any the least difference in our relations however and the bonds and ties of our friendship took into its folds our family members as well and it is extremely gratifying that our children, boys and girls are extremely fond of one another.

Babu Harjas Rai and his brothers had large families and in course of time, Babu Harjas Rai and his family started feeling cramped and suffocated in the meagre accomodation at their disposal. After long deleberations and with great hesitancy, he approached his father and sought his permission to leave the joint family house and take up seperate residence. Chacha Ji did not approve of the proposal and asked his son to shelve the proposal for sometime. Babu Harjas Rai kept drawing Chacha Ji's attention now and then to his difficulties and problems emanating from joint family living. His sense of duty to his respected father did not permit him to injure his feelings and he did not force the issue. It was after the death of Chacha Ji and when his eldest son's marriage was approaching that he rented a seperate house in Lakkar Mandi. Later on, he and his younger brother built magnificant banglows on Maqbool Road in the Civil Lines and started living there.

Babu Harjas Rai's sense of cleanliness has stuck to him throghout his life. He used to sweep his rooms, himself. He would then dust the furniture, books and registers and arrange every little thing in order. He followed the same routine when the family shifted from Amritsar to Faridabad Industrial township. Unfortunately his feeble frame and ill health do not permit him to do this job any more and the same is handled by others. Generally Babu Harjas Rai is very soft spoken and accomodating. He is never aggressive but at the same time he is not prepared to lose sight of his basic principles. I recollect an occasion when he showed his firmness and courage in confrontation with elders in Jaina brotherhood for whom he had great regard. I was a member of the marriage party which went from Amritsar to Sialkot to celebrate the wedding of Babu Harjas Rai's nephew. As was customary then and to a lesser extent even now, members of the 'Barat' would sit together in groups of five or six in a circle and the eats used to be served in large size Thals. Harjas Rai and I were in one group and were eating sweets etc. from the same tray. Some members of the party took exception a non-jain partaking of food along with Jains. Harjas Rai let them know clear and loud that he and his friend, viz myself, would eat together. There was some heat engendered but ultimately Babu Harjas Rai's persuasive arguments, put across a gentle but firm manner overcame their prejudices and things went on merrily. Business was not the only con-

cern of Babu Harjas Rai in Amritsar. As his children grew up, he became concerned about their education and it was through his pioneering efforts that a co-educational institution came into existence at Amritsar. This school was run in a rented building of Hall Bazar and it was through the untiring selfless efforts of Babu Harjas Rai that the present magnificent building of the Mall Road now houses Ram Ashram High School. This School was literally built up brick by brick by Babu Harjas Rai and I understand that the school has—boys and—girls on its roll today.

Side by side with this, Babu Harjas Rai kept up his interest in literary pursuits. He delved deep into Jaina scriptures and felt the need for research in ancient Jaina literature. He enlisted the support of Jaina friends, put across his ideas to them and this dedicated pursuit led the establishment of Sohanlal Jaina Vidya Prasarak Samiti. In course of time P. V. Research Institute was established at Varanasi under the patronage of Babu Harjas Rai. This Institute is a standing monument to the selfless, dedicated service of B. Harjas Rai to the Jaina Community in the first instance and to ancient Indian literature in general. On coming to Faridabad, B. Harjas Rai and his sons established Jeevan Jagan Charitable Trust which is running a popular charitable homeopathic dispensary for services of the general public.

I conclude with best wishes for the P. V. Research Institute, a living memory of Babu Harjas Rai and his family.

HARJAS RAI JAIN, A MAN OF CLEANER PUBLIC LIFE

G. R. Sethi, Amritsar

It is a matter of great pleasure for me to know that P. V. Research Institute, Varanasi, in bringing out an Abhinandan Granth for my dear friend, Shri Harjas Rai Jain.

If I remember aright, I have known him for more than 60 years now. In fact, my contacts with a number of leading Jaina families of Amritsar date back to my school and college days in view of my close ties with the late Professor Mast Ram Jain, who was a classfellow from first primary in the PBN High School, Amritsar, till our graduation from Khalsa College, Amritsar. Both of us were frequent visitors to each other's house. Through his medium, I came to know some prominent Jain businessmen of Amritsar.

When I completed my education, I entered the profession of journalism towards the end of December, 1920. In about a year's time, I had established good contacts with upper strata of local socialites and some prominent businessmen. Lala Rattan Chand Jain, an elder brother of Shri Harjas Rai Jain, had likewise come into my contact.

It was around 1923, that I heard of Master Sunder Singh ji, a khadi clad teacher, having emerged on the scene who had established a school with about half a dozen children of some prominent businessmen, taking up full responsibility for looking after them, their education, their meals, rest and play etc. from morning till evening, collecting these children from their houses and finally returning them to their parents. This was a novel experiment in Amritsar. I was told that the teacher was being financed by members of Shri Harjas Rai Jain's family and one of their neighbours in Guru Bazar, the late Lala Dwarka Das Gotewala. Lala Dwarka Das was known to me very well, because he was a close friend of my father, who used to purchase valuable articles like gold embroidered garments, silk textiles, gold and silver jewellery etc. through Lala Dwarka Das.

Parsuaded by him, I had visited the new school, which had by now a dozen odd students and two or three teachers helping Master Sunder Singh ji. The school was housed in a few rooms of the dilapidated building of the erstwhile Christian Missionary School near Guru Bazar. Lala Harjas Rai Jain was already looking after the financial side of the school.

When its strength increased after a few years, it shifted to a more commodious building near my office in Katra Sher Singh. It was then known as "Mātā Pitā School" and I put my own children in this school. Our contacts with the founder developed further and I was a frequent visitor to the school. This was perhaps in the late twenties or early thirties. As its strenngth grew further, it was shifted to a building in the Civil Lines. By now a Trust had been created with Lala Harjas Rai Jain as its secretary. It had patriots like Dr. Saif-ud-Din Kitchlew, the well-known Martial Law hero and some others as its member. I was also invited to join either the Trust or the Managing Committee, which was functioning with Shri Harjas Rai Jain as its Honorary Secretary. The more I saw of him, greater was my admiration for the zeal with which he performed his duties giving time and money both to build up a wonderful institution, which has now its own spacious buildings and is the only co-educational institution in this city teaching up to Higher Secondary classes. It is my privilege to be the Chairman of its Governing Council.

The more I saw him and his working, the greater was my admiration for his integrity, both in public and private life. He was almost unsparing, when he saw something wrong done by his closest friends, he was always brutally frank and unbending on matters of principle. Because of his remarkable honesty, addiction to truth and free and frank expression on matters of public interest, he may have annoyed some people, but he did not sacrifice principles for expediency.

I cannot say anything else, except that I treat him as my model for a cleaner public life, a rare quality these days, a commodity so scarce.

I am glad that his sons are also trying to follow in his footsteps.

RESEARCH PAPERS

ENGLISH SECTION

JAINA TRADITION OF TIRTHANKARS

Dr. Vilas A. Sangave

Tradition of Tirthankars :

Jainism is the ancient religion of India and during its long and unbroken existence it is promulgated by 24 Great Preachers known as 'Tirthankaras' i. e. 'ford makers to across the stream of existence'.

This tradition of Tirthankaras begins with Rishabha, the first Tirthankara, and ends with Mahavira, the twentyfourth Tirthankara. Naturally, there is a continuous link among these twenty-four Tirthankaras who flourished in different periods of history in India. It therefore means that the religion first preached by Rishabha in the remote past was preached by the succession of remaining twenty-three Tirthankaras during their life-time for the benefit of living beings. Since Mahavira is the twenty-fourth Tirthankara in this line of Tirthankaras, he, by no means, could be considered as the founder of Jaina religion. Hence Mahavira is not the founder but the promulgator and great preacher of Jaina religion during the sixth century B. C. Now it has been an accepted fact by the historians that Mahavira did not found Jaina religion but he preached the religion which was in existence from the remote past.

Historicity of the Jaina Tradition :

The historicity of this Jaina tradition is amply borne out both by literary and archaeological evidences. By the beginning of the 20th century many writers were under the impression that Mahavira was an imaginary or a legendary figure. Soon they realised that Mahavira was a historical figure. But still he was regarded as the founder of Jaina religion and as the champion of non-violence who revolted against the violent practices of Brahmanism. The recent researches in historical and Indological studies carried out by Western and Oriental Scholars have removed beyond doubt the ideas of former writers about the role of Mahavira and have now conclusively established the fact that Mahavira is not the founder of Jaina religion but the promulgator of Jaina religion

which was in prevalence in India, especially in Eastern India, from the ancient past. This view is clearly stated by P. C. Roy Chaudhury in his book 'Jainism in Bihar' in the following terms : "A common mistake has been made by some of the recent writers in holding that Jainism was born because of discontent against Brahmanism. This wrong theory originates because these writers have taken Vardhamana Mahavira as the founder of Jainism. This is not a fact....... The creed had already originated and spread and Mahavira propagated it within historic times".

Thus it is now an accepted fact that Mahavira is the Tirthankara or prophet of Jaina religion and that he preached the religion which was promulgated in the 8th Century B. C by his predecessor Parshvanatha, the 23rd Tirthankara. The historicity of Parshvanatha (877-777 B. C.) has been clearly established. Parshvanatha, the son of King Vishvasena and Queen Vamadevi of Kingdom of Kashi, led the life of an ascetic, practised severe penance, obtained omniscience, became a Tirthankara, propagated Jaina religion and attained Nirvana or salvation when he was 100 years of age at Sammet Shikhara, i.e. Parasnatha hill in Hazaribag District of Bihar State. Eminent historians like Vincent Smith, R. C. Majumdar, and R. K. Mookarji regard Parshvanath as a historical personage and a great preacher of Jaina religion.

The predecessor of Parshavnatha was Nemi-natha or Arishtanemi, the 22nd Tirthankara and the historicity of Nemi-natha like that of Parshvanatha, could be easily established. Nemi-natha was the real cousin of the famous Lord Krishna of Mahabharata as Samudravijaya, the father of Nemi-natha, and Vasudeva, the father of Krishna, were brothers. Nemi-natha possessed a unique personality due to his great compassion towards animals. This is clearly revealed by a significant incident in his life. While Nemi-natha was proceeding at the head of his wedding procession to the house of his bride, Princess Rajimati the daughter of King Ugrasena, he heard the moans and groans of animals placed in an enclosure for some meat eaters and instantly decided not to marry at all as his marriage would involve such a slaughter of so many innocent animals. Immediately Nemi-natha renounced his royal title and became an ascetic. Learning this renunciation of Nemi-natha, the betrothed princess Rajimati also became a nun and entered the ascetic

order. Nemi-natha preached religion for several years and finally attained Nirvana on the Mount Girnar, in Junagadha District of Gujrat State. As Nemi-natha renounced the world, he did not take part in the fraternal struggle of Mahabharata like his cousin brother Lord Krishna. Since this Great War of Mahabharata has to be assumed as an historical event and Krishna to be an historical personage, then his cousin brother Nemi-natha is also entitled to have a place in this historical picture. There is also an inscriptional evidence to prove the historicity of Nemi-natha. Dr. Pran Nath published in the "Times of India" (dated 19th March 1935) a copper plate grant of the Babylonian King Nebuchadnazzar I (1140 B. C.) found at Prabhaspattan in Gujrat State, which, according to his reading, refers to the Babylonian King having come to Mount Revat to pay homage to Lord Nemi-natha. Dr. Fuherer also declared on the basis of Mathura Jaina antiquities that Nemi-natha was an historical personage (vide Epigraphica Indica, I, 389 and II, 208-210). Further, we find Nemi-natha's images of the Indo-Scythian period bearing inscriptions mentioning his name. These and many other inscriptions corroborate the historicity of 22nd Tirthankara Nemi-natha.

Among the remaining 21 Tirthankaras of the Jaina tradition, there are several references from different sources to the first Tirthankara Rishabhanatha or Adinatha. Thus the tradition of twenty-four Tirthankaras is firmly established among the Jainas and what is really remarkable about this Jaina tradition is the confirmation of it from non-Jaina sources, especially Buddhist and Hindu sources.

Jaina Tradition and Buddhism :

As Mahavira was the senior contemporary of Gautama Buddha the founder of Buddhism, it is natural that in the Buddhist literature there are several references of a personal nature of Mahavira. But it is very significant to note that in Buddhist books Mahavira is always described as Nigantha Nataputta (Nirgrantha Jnatriputra, i.e. the naked ascetic of the Jnatri clan) and never as the founder of Jainism. Further in the Buddhist literature Jainism is not shown as a new religion but is referred to as an ancient religion. There are ample references in Buddhist books to Jaina naked ascetics, to worship of Arhats in Jaina Chaityas or temples and to the Chaturyama Dharma (i. e. fourfold religion) of 23rd Tirthankara Parshvanatha.

Moreover it is very pertinent to find that Buddhist literature refers to the Jaina tradition of Tirthankaras and specifically mentions the names of Jaina Tirthankaras like Rishabhadeva, Padmaprabha, Chandra prabha, Pushpadanta, Vimala-natha, Dharma-natha and Nemi-natha. The 'Dharmottarapradipa', the well-known Buddhist book, mentions Rishabhadeva along with the name of Mahavira or Vardhamana as an Apta or Tirthankara. The 'Dhammikasutta' of the 'Anguttra Nikaya' speaks of Arishtanemi or Nemi-natha as one of the six Tirthankaras. The Buddhist book 'Manoratha-Purani', mentions the names of many lay men and women as followers of Parshvanatha tradition and among them is the name of Vappa, the uncle of Gautama Buddha. In fact it is mentioned that Gautama Buddha himself practised penance according to the Jaina system before he propounded his new religion.

Further, it is significant to note that the names and numbers of Buddhas, Paccekabuddhas and Bodhisattvas in Buddhism appear to have been influenced by those of the Jaina Tirthankaras. For instance, Ajita, the name of the 2nd Jaina Tirthankaras, has been given to one Paccekabuddha. Padma, the 6th Jaina Tirthankara, is the name of the 8th of the 24 Buddhas. Vimala, a Paccekabuddha, has been named after Vimala-Natha, the 13th Jaina Tirthankara.

Jaina Tradition and Hindusim :

The Jaina tradition of 24 Tirthankaras seems to have been accepted by the Hindus, like the Buddhists, as could be seen from their ancient scriptures. The Hindus, indeed, never disputed the fact that Jainism was founded by Rishabhadeva and placed his time almost at what they conceived to be the commencement of the world. They acknowledged him as a divine person and counted him amongst their Avatāras i.e. various incarnations of Lord Vishnu. They give the same parentage (-father Nabhiraja and mother Marudevi) of Rishabhadeva as the Jainas do and they even agree that after the name of Rishabhadeva's eldest son Bharata this country is known as Bharata-Varsha.

So far as the oldest Vedic literature is concerned we find that in the Rig-Veda there are clear references to Rishabha, the 1st Tirthankara and to Arishtanemi, the 22nd Tirthankaras. The Yajur-Veda also mentions the names of three Tirthankaras, viz. Rishabha, Ajitanatha and

Arishtanemi. Further, the Atharva Veda specifically mentions the sect of Vratyas and this sect signifies Jainas on the ground that the term 'Vratya' means the observer of Vratas or vows distinguished from the performer of sacrifices, which applied to the Hindus at the times. Similarly in the Atharva-Veda the term Maha-Vratya occurs and it is supposed that this term refers to Rishabhadeva, who could be considered as the great leader of the Vratyas.

In the later Puranic literature of the Hindus also there are ample references to Rishabhadeva. The story of Rishabha occurs in the Vishnu-purana and Bhagavat-Purana, where he figures as an Avatara i.e. incarnation of Narayana, is an age prior to that of ten avataras of Vishnu. The story is exactly identical with the life history of Rishabhadeva as given in the Jaina sacred literature. In this way Rishabhadeva's life and significant importance narrated in the Jaina literature get confirmed by the account of Rishabha given to the Hindu Puranas.

Thus from the fact that Hindu tradition regards Rishabhadeva-and not Mahavira-along with Gautama Buddha as an incarnation of God, it can be said that the Hindu tradition also accepts Rishabhadeva as the founder of Jainism.

Jaina Tradition and Archaeological Evidence :

From some historical references it can be regarded that Rishabhadeva must be the real founder of Jainism. In this connection Dr. Jacobi writes thus, "There is nothing to prove that Parshva was the founder of Jainism. Jaina tradition is unanimous in making Rishabha the first Tirthankara as its founder and there may be something historical in the tradition which makes him the first Tirthankara". There is evidence to show that so far back as the first century B.C. there were people who were worshipping Rishabhadeva. It has been recorded that King Kharvela of Kalinga in his second invasion of Magadha in 161 B. C. brought back treasures from Magadha and in these treasures there was the statue of the first Jaina (Rishabhadeva) which had beed carried away from Kalinga three centuries earlier by King Nanda I. This means that in the 5th Century B. C. Rishabhadeva was worshipped and his statue was highly valued by his followers. From this it is argued that if Mahavirā or Parshvanatha were the founders of Jainism, then their statues would have

been worshipped by their followers in the 5th Century B. C. i.e. immediately after their time. But as we get in ancient inscriptions authentic historical references to the statues of Rishabhadeva it can be asserted that he must have been the founder of Jainism.

Other archaeological evidences belonging to the Indus Valley Civilization of the Bronze Age in India also lend support to the hoary antiquity of the Jaina tradition and suggest the prevalence of the practice of worship of Rishabhadeva, the 1st Tirthankara, along with the worship of other deities. It is very pertinent to note that many relics from the Indus Valley excavations suggest the prevalence of Jaina religion in that most ancient period.

From these archaeological evidences it can be stated that there are traces of worship of Jaina deities and that there was the prevalence of worship of Jaina Tirthankara Rishabhadeva along with the worship of Hindu God who is considered to be the prototype of Lord Shiva in the Indus Valley Civilization. This presence of Jaina tradition in the most early period of Indian history is supported by many scholars like Dr. Radha Kumud Mookarji, Gustav Roth, Prof. A. Chakravarti, Prof. Ram Prasad Chand, T. N. Ramchandran, Champat Rai Jain, Kamta Prasad Jaina and Dr. Pran Nath.

Regarding the antiquity of Jaina tradition of Tirthankaras Major J. G. R. Forlong (in his books 'Short-studies in the Science of Comparative Religion') writes that from unknown times there existed in India a highly organized Jaina religion from which later on developed Brahmanism and Buddhism and that Jainism was preached by twenty-two Tirthankaras before the Aryans reached the Ganges. Dr. Zimmerman also strongly supports the antiquity of Jaina tradition in the following terms. "There is truth in the Jaina idea that their religion goes back to remote antiquity, the antiquity in question being that of the Pre-Aryan". (Vide Zimmerman : The Philosophies of India, p. 60).

CONTEMPORARY RELEVANCE OF 'TRIRATNA' IDEAL OF JAINISM

Dr. L. K. L. Srivastava, Ballia

Jainism, as we know, is famous for its ethical teachings being consequent upon the attainment of liberation. A kevalin (liberated one), free from all 'ghātin' karmas, enjoys infinite bliss, knowledge, faith and power. In order to attain liberation, Jainism lays down certain disciplines. The very first Sūtra of 'Tattvārthasūtra' suggests right faith, right knowledge and right conduct together as path to liberation.[1] These are known as three jewels (triratna) in Jainism.

Now, the belief in the padārthas[2] (tattvas) such as soul etc. is right faith or intuition. 'Faith in the predicaments is right intuition.'[3] To elaborate it another definition follows : 'Acquiescence in the predicaments declared by a jaina is called right faith, it is produced either by natural character or by the guru's instruction.'[4] This right vision appears to be eight fold viz. (a) niśaṅkatā (b) niḥkāṅkṣitā (c) nirvicikitsā (d) amūḍhadṛṣṭi (e) upabṛhaṇa (f) sthitikaraṇa (g) vātsalya (h) prabhāvanā. Right knowledge is the knowledge of the predicaments and c., according to their real nature, undisturbed by any illusion or doubt. 'That knowledge which embraces concisely or in detail the predicaments as they actually are is called right knowledge by the wise.'[5] This knowledge is said to be five fold viz. (a) mati (b) śruta (c) avadhi (d) manaḥparyāya (e) kevala. Right conduct is the abstaning from all actions tending to evil courses by one who possesses faith and knowledge. Right conduct is described as the entire relinquishment of blamable impulses.[6]

1. Samyagadarśanajñāna Cāritāṇi mokṣa mārgaḥ, cf. T. S. I/1.
2. Jainism recognizes the following tattvas viz. soul, non-soul, inflow, bondage, stoppage, shedding of karmic matter and liberation; Ibid 1/4.
3. Ibid.
4. Cf. 'The Sarvadarśanasaṁgraha' by Madhavacarya, The Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi 1961 p. 46.
5. Cf. T. S. 1/9 also cf. Svaparāntaram jānātīyaḥ sah jānāti—Istopadesh-33.
6. Cf. 'Samayasāra,' IV/155 also cf. S. D. S. by Madhacarya, pp. 47-48.

Right conduct has been subjected to a five fold division viz. (a) ahiṁsā (b) satya (c) asteya (d) brahmacarya (e) aparigraha. These five are called 'five vows'[1] in Jainism. These are prescribed for both monks and householders to prepare the ground for attaining 'anantacatuṣṭaya'.[2] In the case of former, they are termed as great vows (mahāvrata); while in case of the latter they are called small vows (aṇuvrata). Monks should practise them according to the highest and strictest standard. Householders have been given due considerations. The vow of ahiṁsā is the avoidance of injuring life by any act of thoughtless in any morable or immovable thing. To householders it would mean abstinence from killing any animal. Truthfulness is understood as truth in thought, word and deed. Asteya means not taking anything in thought, word or action for which one is not entitled. Brahmacarya means chastity in word, thought and deed. For a householder it would mean mere cessation from adultery. Aparigraha is understood as renunciation of all worldly interests by thought, word and deed.

A pertinent question arises in this context : Why does Jainism not cling to right knowledge alone as the path of liberation ? The cause is obvious. Bondage, here, is the result of perverted vision, knowledge and conduct and hence the above three means, together, are suggested. Moreover, these three are spoken of as interdependent and if any of them is missing, liberation becomes impossible. The text runs thus : 'without right faith there is no right knowledge, without right knowledge there is no virtuous conduct, without virtues there is no deliverance (mokṣa) and without deliverance there is no perfection nirvāṇa)'.[3] Thus we see that when these three are united, they become conducive to liberation. They should not be practised severally. As a patient does not recover his disease with the knowledge of medicine alone but by his constant use with a conviction that he will be cured soon; similarly, liberation in life is possible with the practice of these three means mentioned above.[4]

From the discussion made so far, we come to a conclusion that though all the three are equally important for the attainment of liberation

1. Cf. Five yamas in the 'Yoga-Sutra' ii/30.
2. Cf. T. S. VII/2.
3. Uttarādhyayna Sutra XXVIII/30.
4. Akalanka Deva's 'Tattvārtha Vārtika', 1/1, p. 14.

Jainism seems to lay more stress on right action or conduct. Right knowledge and right vision are the theoretical aspects whereas right conduct forms the practical one. It is the right conduct which perfects knowledge, since theory without practice is empty. Right knowledge dawns when all the karmas are destroyed by right conduct. S. Radhakrishnan rightly remarks :' The materialistic view of karma leads the Jainas to attribute more importance than the Buddhists to the outer act in contrast to the inner motive.'[1]

Now let us turn our face to the modern society and observe how the well known triad called the three jewel (right intuition etc.) bear contemporary relevance. A consideration of the temper of the modern world leads us to believe that the most important fact that every social, political or religious thinker has to face not only in India but in any part of the world (so called developed and advanced), is that the social milieu in which he lives, is in a very high degree hostile to the spiritual life. Modern world claims to be progressive for certain reasons. The rapid growth (development) of science and technology has been threatening religions values of life for a considerably long time. It is said to have brought to us prosperity, convenience, sophistication and novelty. That is undoubtedly true. This world teems with objects of comforts provided by science. We are very lavishly enjoying the blessings of science in respect of automobiles, ships and what not. Our cosmonants have already reached the Moon and think now, to migrate on that. Various discoveries and inventions in the field of medicine and surgery have prolonged the span of human life. The greatness of a nation is measured today by the quality and amount of destructive weapons it possesses. Fabulous sums of money are spent for equipping the nation with sophisticated modern weapons. No one knows what will be the consequence of all this in future, but what it has resulted in something good or bad, is visible to every keen eye. The technological revolution liberates man from his servitude to Nature but it has also the dreadful possibility of man's self-destruction.

1. 'Indian Philosophy', vol, I, by Radhakrishnan, S. p. 325. George Allen and Unwin Ltd. London, 1929, also cf. A History of Indian Philosophy', Vol. I, by Dasgupta, S. N. p. 200, Cambridge University Press, 1969.

The secularised man of today is restless, full of doubts, relentlessly questioning and experimenting. He is sceptical regarding the existence of God, Soul, life after death and liberation. Religion, for him, is the cause of intellectual bondage, failure and lack of vitality, because it believes that all needful truth, is given to man and there is no need for further enquiry and search.[1] It is supposed to be a failure to promote the best life. Overall, its vitality and usefulness is being questioned in this age.

Change is the inexorable law of Nature, I admit. Everything undergoes a change and this is its life. Our present sensibility is the outcome of the same law of Nature. Of course the modern mind wants novelty. Wonderful is the change that has made man forgetful of himself. Behind this present unrest of man of today, there lies a fact that he is not living a fuller life. The hippy movement all over the world, is a clear indication of spiritual unrest. The fact is that the Man is not only a biological entity or even a social animal, but also something more. There is a hidden core of the human personality which lends meaning to life and which gives man no rest till he discovers it. Now, what is it that most of us are seeking ? Especially in this world, everybody is trying to find some kind of peace, happiness, a refuge. Surely it is important to find out, is not it ? Probably most of us are seeking some kind of happiness in a world that is ridden with turmoil, wars, contention, conflict and strife. That is why, we 'pursue, go from one leader to another, from one religious organisation to another, from one teacher to another.'[2]

The destructive potentiality of increased scientific power and technological skill can be neutralised only by the development of world community. If human life is to be bearable, such a community must come into existence. This requires a change in human nature, a great wave of generosity. The world cannot be better than the individuals who compose it. Changes of government or economical systems do not help

1. cf. 'Idealist view of Life', Radhakrishnan, S., p. 43, G. A. U. Ltd. London, 1957.
2. 'The First and Last Freedom', by Krishnamurti, J. p. 28. London Victor Gallan Ltd. 1967.

us to raise the quality of human beings. We must get rid of our Self-centredness and develop world loyalty. In other words, the crisis of man could only be solved by realizing his spiritual potentialities and his true mission in life, which would spontaneously result in non-injury, non-appropriation, desirelessness, freedom from fear selfless service, Self-realization and Self-knowledge.

The necessity for us is to realize our own selves. Afterall that is the main issue, is not it ? So long as we do not understand ourselves, we have no basis for thought, we can escape into illusions, can flee away from contention and strife, can look for our salvation through somebody else; but so long as we are ignorant of ourselves, the total process of ourselves, we have no basis for thought, for affection and action. The ideal of 'Triratna' is particularly relevant at the present time marked by spiritual unrest and crisis. The modern mind may not find it possible to believe in God, Soul and immortality but he can not be indifferent to the prospects of peace promised by this ideal. It puts before us the ideal of a perfect human being. Thus Triratna ideal, if put into practice, will establish permanent peace and all selfishness, enmity and malice will disappear. All our conflicts, all our contentions and clashes will come to an end. The life will be harmonious and worth living. Now What else is required by man than to live a heavenly life on the earth ?

JAINAS CONCEPT OF SUBSTANCE

Narendra Kumar Singh

A thing has many characters and it exists independently. It is called substance. Substance is defined which possess qualities and modes, and also possesses two different kinds of characters. Some are permanent and essential while others are changing. For instance consciousness, is the essential character of the soul, while desires, volitions, pleasure and pain are its accidental characters. The former are the attributes (guṇa) and the latter are modes (paryāya).

The definition of substance (dravya) that we find in Jainism is this, "that which maintains its identity while manifesting its various modifications and which is not different from satta is called substance.

Substance is the subject of qualities (guṇa) and modifications (Paryāya). The quality stays with the substance, and is constant, the modifications succeed each other. A particular piece of clay always has form, but not always the same form. It is never without form, form is a constant quality, these are modifications.

Substance is that in which there are origination, destruction, and permanence. With the origination of a new mode of existence there was the destruction of the old mode of existence, while the substance has remained permanent. With the destruction of a house there is the origination or coming into existence of a heap of debris, while the bricks etc. are the same. The substance is neither destroyed nor originated, only the mode of existence, only the relations between the parts in this case. It is true that modes of things are changing every minute but qualities are not changing. Thus, when a jug is made it means that the clay lump has been destroyed, a jug has been generated and the clay is permanent, all production means that some old modes have been lost, some new one's brought in, and there is some part in which it is permanent. The clay has become lost in some form, has generated itself in another, and remained permanent in still another form. Thus when a lump of gold is turned into a rod or a ring, all the specific

qualities which come under the word "gold" are seen to continue, though the forms are successively changed, some of its modes are lost and some new ones are acquired. So here we find that gold is always gold but in its various forms, it might be changed but every where its goldness remains, gold is a constant property.

The essential qualities are always remain in the object and the in-essential qualities are changeable. For instance, the essential quality of soul is consciousness and this quality always remains in soul. Pleasure and pain and other modes are in-essentials it manifests, last for some time being and again destroy. What are the basis of these modes ? The Jaina philosophy calls this basis is substance. Generally only the basis of essential qualities are called substance. In a tree, perhaps, there may be change but there are even such qualities which are not influenced by change. In general, the basis of those qualities are called dravya. But the jaina philosophy does not admit dravya as the basis of essential quality, it admits the basis of inessential qualities also.

Thus in substance (dravya) there are both guṇa and paryāya. If the substance is entirely abstract and distinct from its qualities then it may change into infinite other substances, or if the qualities can exist separate from their substance, there will be no necessity for a substance at all. The relation between substance and quality is one of contemporary identity, unity, inseparability and essential simplicity, the unity of substance and qualities are not the result of union or combination.

Substances have been classified as either asti-kāya (extended) or nāsti-kāya (non-extended). There is only one substance namely, time (kāla) which is non-extended because it has no parts. Substances are further classified as either conscious (Jīva) or non-conscious (Ajīva). There are five non-conscious substances (ajīvas) namely, matter (pudgala), medium of motion (Dharma), medium of rest (Adharma), space (Ākāṣa) and time (Kāla). Now, we will discuss about the nature of five nonconscious substances.

Pudgala : Pudgala has been defined as that which undergoes modification by combination (Puḍ = to combine) and dissociations (Gala = to dissociate). It has rūpa, meaning, the qualities of colour, touch, taste and smell.

It possesses a form (mūrta). This word in the Buddhism has been used in the sense of a soul, while in Jainism it is used for matter. Matter signifies anything which is liable to integration and disintegration. It is an eternal substance with regard to quantity and quality. It may increase or diminish in volume without any addition or loss of particles. All material substances are characterised by the tendency to form aggregates or to break up into smaller and smaller parts. The smallest part which cannot be divided further is the atom (aṇu), compound objects of the material world including senses, mind and breath are the combinations of atoms. Sound has been regarded not as a quality but only as a modification of matter. According to Kundakunda pudgala is as that which can be experienced by the five sense-organs.

Amṛtacandra Sūri, defining pudgala says that parmāṇus are called pudgalas, Skaṇdhas are also called Pudgalas, as they are the modifications of several pudgalas. According to Jainas everything in the world except souls and space, is produced from matter. Pudgala exists in the two forms of aṇu or atom and skandha or aggregate. The skandhas vary from binary aggregates to infinite compounds.

Medium of motion : (Dharma) This is the principle of motion and pervades the whole universe, Dharma, in Jainism, has been defined as a substance which itself does not move but helps the moving jīvas in their movement, just as water assists the movement of moving fishes. The fish swims by its own force but the water is essential for swimming. It has absolute absence of taste, colour, smell, sound and touch, so it is formless. The medium of motion is an immaterial substance which possesses no consciousness. From the empirical standpoint it has been considered to possess an infinite number of space points

(Pradeśas) and from the transcendental standpoint it is said to possess only one pradeśa.

Medium of Rest
(Adharma) : This is the principle of rest and pervades the whole universe. This is the auxilary cause of rest to the soul and matter,

Adharma has been defined as a cause of helping the pudgalas and Jīva which are at rest, in taking rest, just as earth, which is at rest, helps those who want to stay and take rest. Like dharma, it has also absolute absence of taste, colour, smell, sound and touch and so it is formless. It is because of this principle that bodies in motion are enabled to enjoy a state of rest Dharma is a substance which provides the conditions for the movement of other substances, while remaining unmoved. Adharma, on the contrary, is the condition that helps the various substances to return to a restful state from their mobility, in the same way a tree helps a traveller to stop and rest in its shade. In Jainism these two are considered to be metaphysical categories and in Hinduism they are considered to be ethical principles. Dharma is itself motionless and it helps the movements of those which are in motion. Similarly the 'adharm' is motionless and helps in the stay of those which want to take rest.

Space : Space is infinite, eternal and imperceptible. All substances except time have extension and extension is afforded only by space. Space is eternal pervasive, and formless substance which provides room for the existence of all extended substances. Though imperceptible, its existence is inferred from the fact that substances which are extended can exist only in some place Thus space is a necessary condition for the existence of all extended subtances. The Jainas distinguish between two kinds of space, the one which is charactrised by the

presence of motion and the another in which motion is absent. Lokākāṣa is the world of life and movement and constitutes the ground of all human activity and experience. There is nothing in it except pure space. Only the omniscient souls can have a direct apprehension of it.

Time : Time has astitva or existence. Time is an āstikāya, because it does not extend in space. It is infinite. It is not perceived but inferred from its characteristics which make possible continuty, modification and activity. It is one and indivisible. Modification or change of stages in a substance cannot be conceived without reference to time.

A difference has been made between eternal time, without form, begining or end and relative time, with beginning and end and variations of hour, minute etc. The former has been regarded as kāla and the latter samaya. Kāla is the substantial cause of samaya. Relative time is determined by changes or motion in things. These changes themselves are the effects of absolute time. The eminent philosopher has said that there is not only, succession in time but also duration is.

Substance : (1) The Jaina Philosophy accepts the conclusion of infinite Dharma object.

(2) There remains two kinds of characters in the object, essential and inessential.

(3) Dravya is the combination of two kinds of characters.

(4) The dravya has been classified.

(5) The Jīva and ajīva come in the extended substances. The ajīva has four types, Dharma, adharma, pudgala and Ākāṣa.

(6) Each pudgalas are the combinations of the atoms.

(7) Kāla is non-extended dravya.

Conclusion :

In the above classification of substance, as we see that any thing which has origin, existence and destruction is called substance, and substance possesses both qualities and modes. Substance and quality are inseperable. Substance is not changeable and is permanent. We have seen that the essential quality of substance is not changeable, for example the substance gold with its quality is not subject to change.

References :

1. Bhāratiya Darśan.
2. The conceptual framework of Indian Philosophy.
3. Outlines of Jainism.
4. Indian Philosophy.
5. A critical study of Indian Philosophy.

JAINA THEORY OF PAROKṢA-JÑANA

Dr. Gour Hajra, Visva-Bharati

It is truly necessary to know what is pratyakṣa or an immediate knowledge before going to discussion on mediate knowledge or a Prokṣa-jñāna. Umāsvāti makes it clear that knowledge which depends exclusively upon ātman alone is pratyakṣa, while that which depends upon sense-organs and manas is parokṣa, of course, even in the case of parokṣa-jñāna, the instrumentality of Ātman is also accepted.

Knowledge derived through the sense-organs and manas was thus considered parokṣa-jñāna by Jaina Philosopher and this was directly against the views held by the other schools of Indian Philosophy, which generally held the views that the sense-organs give us immediate knowledge (Pratyakṣa-jñāna) whereas all the other 'sources' lead to only mediate knowledge.

But if we observe the stages of evolution in the Jaina canons, we find there are three stages. Among these three stages, third stage was influenced by the general tendency of Indian Philosophy that regards sensory knowledge as direct. (on this stage sensory knowledge has been placed in both categories, viz. direct and indirect. The sensory knowledge is direct in vyavahāra or practice or in the secondary sense).

Thus, according to early Jaina Philosophers, the knowledge which is derived from the self is pratyakṣa and knowledge which does not arise from the self alone is called parokṣa. But the later Jaina Philosophers came to accept the knowledge produced by the sense-organs also as pratyakṣa. According to later Jaina logicians perception is the knowledge obtained through the operation of sense-organs and the manas. Hemacandra defines 'Viśadam Pratyakṣa as clear knowledge. Clarity is its special quality. Akalaṅka also held this definition.

Now, we come to our specific discussion on the Jaina theory of mediate or non-perceptual knowledge. Non-perceptual is that which is not clear. The Jaina logician Akalaṅka says 'aviśadam parokṣam'. It is indistinct, unlike pratyakṣa, dependent on others. It is devoid of

perceptual vividness. Akalaṅka classified parokṣa-jñāna into following types : (1) Smṛti, (2) Pratyabhijñā, (3) Tarka, (4) Anumāna and (5) Āgama. All these being indirect knowledge. Let us discuss these five types of mediate knowledge one by one and see which of them is very important.

(1) *Smṛti* (memory)—Memory is the knowledge of an object perceived in the past as 'that' due to revival of its disposition (saṁskāra) which is a particular power of the self. It is revived. It is an effect of the revival of the disposition of the previous perception of an object. The object remembered must have been known in the past and it is experienced at the time of recalling it, in the form of 'that'.

There is a controversy among the philosophers, whether memory is a pramāṇa or not. Some holds that memory is a pramāṇa and some holds it is not a pramāṇa. There are mainly two traditions on the point the Jaina and the non-Jaina.

According to the Jainas memory is a sub-class of pramāṇa. This is clearly a departure from the view usually held by other-schools of Indian Philosophy on the point. On the other hand, non-Jaina tradition, vedic as well as Buddhist Philosophers are not ready to accept it as an independent pramāṇa on the ground that it depends on the validity of earlier experience (grahitagrahitva).

On the other hand, the Jaina logicians unanimously accept the validity of Smṛti Pramāṇa. Their main argument is that the Saṁskāras recall for any particular purpose; the things experienced in the past. The memory of such things is a source of knowledge gained through senses. Therefore, memory is considered to be a pramāṇa because it is true facts (saṁvādin) just as perception etc. are treated as pramāṇas, because they are true facts.

The validity of pramāṇa can't be ascertained merely by relation to its dependence or independence of experience. If this argument is accepted, even pramāṇa will cease to be a pramāṇa, for inference also depends on knowledge already acquired through direct emperical perception.

(2) *Pratyabhijñān* (recognition)—Recognition is the synthetic cognition, caused by experience and recollection and cognising the simi-

larity. It apprehends an object in the forms 'this is that', 'this is like that', 'this is different from that', 'this is correlated to that' and the like. It knows relations, identity, similarity, dissimilarity, relation of sign and signate, correlation and the like; between a present perceived object and object perceived in the past and remembered now. Recognition knows a present perceived object as known in the past, e.g. 'this is that Devadatta' perception knows 'this'. Recollection knows 'that'. But recognition knows 'this is that'.

In connection with the problem of recognition, philosophers have held divergent views on two points, viz as to whether it is pramāṇa and as to its nature. The Buddhist tradition treats recognition as no pramāṇa. They believe in the transitory nature of things and hold that Devadatta of to-day is not the same Devadatta as of yesterday. From their point of view, therefore, the recognition 'he is the same Devadatta' is wrong. For them, infact, there is no question of recognition.

But the philosophers belonging to the two non-Buddhist traditions i.e. Jaina and Vedicist agree in treating recognition as pramāṇa. The Jaina Philosophers believe in 'change in permanance'. According to them an object changes but does not loose its identity. The change is therefore, partial and not absolute and thus recognition is possible. In fact, the very fact that we do recognise things in practice, has been used by the Jainas as well as Brahmanical Philosophers to refute the theory of transitory nature of things.

(3) *Tarka* (inductive reasoning)—Inductive reasoning is a knowledge of universal concomitance of the probane with the probandum in the past, present and the future arising from the observation of their copresence and co-absence in the form of 'If this is present that is present' and 'if this is absent that is absent'.

Umāsvāti in his Tattvārtha Bhāṣya has used the words tarka (reasoning) and uha (logic) as synonyms of second variety of sensuous knowledge, the speculation (Īhā). It was Akalaṅka who first of all offered a logical definition of reasoning. Since then the Jaina logicians have been defining reasoning as an independent organ of knowledge for cognising all such concepts as an universal like that of the concomitance of probandum and probane.

Mīmāṁsakas do not accept Tarka as a separate pramāṇa. The Buddhists also deny its validity on the ground that tarka can only help one to know further an object which is already known through perception. The Naiyāyikas maintain that reasoning is only helpful in removing doubts about concomitance and is not independent organ of knowledge.

The Jaina logicians Akalaṅka recognised reasoning (tarka) as an independent organ of knowledge, since concomitance can not be known without reasoning. If we do not accept the validity of reasoning, we will not be able to accept either, as they both (influence and reasoning) depend on the same basis for their validity as pramāṇas.

(4) *Anumāna* (inference)—The most important method of knowledge is anumāna or inference. The Sanskrit word anumāna is usually translated as inference. Anumāna means a cognition which takes place after some other cognition, specially perception. The Vedic thinkers may have been the first to attempt a definition of anumāna and their definition influenced the the Jainas. Jainas hold that anumāna is the method of knowing an unperceived object through the perception of a sign (Hetu) recollection of its invariable concomitance with that object.

The Nyāya view is that anumāna is a type of secondary knowledge deduced from a prior knowledge. A knowledge of the invariability of concomitance between two things helps to deduce existence of one of them when the other is perceived. Vātsyāyana in his book Nyāyabhāṣya uses the term (अन्वीक्षा) 'anvīkṣā' as synonyms for the word 'anumāna'. 'Anvīkṣā' literally means knowledge which follows from other knowledge. It is always indirect or mediate knowledge. It is a complex process of knowledge is accepted by all schools of Indian thought except Cārvāka who denies it altogether.

Akalaṅka presents a comprehensive definition of anumāna as follows—congnition of sādhya produced by the sādhana is called Anumāna, which follows liṅga-grahaṇa and Vyāpti-Smaraṇa.

Hemachandra defines anumāna thus :

साधना साध्य विज्ञानम्—अनुमानम्

Anumāna is the knowledge of Sādhya from sādhana. Fire is inferred from smoke. Here 'smoke' is the sādhana and 'Fire' is the Sādhya.

Anumāna is based on the universal accompaniment of the probane '(Sādhana) by the probandum (sādhya) in simultaneity or succession,

It is based on Vyāpti derived from induction (tarka), which is the logical ground of inference. In the early Jaina literature, the term 'avinābhāva' is frequently used as the equivalent of Vyāpti.

In Jaina philosophy there are two kinds of Anumāna : (1) Svārthānumāna (inference for one's own self) and (2) Parārthānumāna (inference for the sake of others) or syllogistic inference.

(1) Svārthānumāna consists in the knowledge of the probandum from/probane ascertained by one's own self, as having the sole and solitary characteristic of standing in necessary concomitance with the probandum. The organs of Svārthānumāna are said to be three in number, viz Sādhya, Sādhana and Pakṣa.

(2) Parārthānumāna is the knowledge of the probandum derived from the statement of the probans having the characteristic of necessary concomitance. Philosophers of different schools hold different views as regards the constitution of syllogism The Śāṁkhya maintains that a syllogism consists of three parts : Thesis (pakṣa), reason (Hetu) and example (dṛṣṭānta). The Buddhist philosopher Ācārya Dignāga also hold these three. The Mīmāṁsakas assert four parts with the addition of application (upanaya). The Naiyāyikas assert five part with the addition of conclusion (nigamana).

The Jaina holds that the thesis and reason constitute syllogism adequate for an intelligent person. Inference for less-intelligent persons, on the contrary, requires a long chain of premises. To teach such persons, the Jainas accept not only are all the five premises of the Nyāya-syllogism but they go even further than this and accept ten-limbed syllogism for such persons.

As regards the aspects of the nature of a hetu (reason), the Buddhists like the Vaiśeṣikas and Sāṅkhyas assert that there are three aspects of a hetu viz Pakṣadharmatā (presence in the subject), Sapakṣatva (presence in a homologues) and Vipakṣatva (absence from hetrologues). The Naiyāyikas accept in addition to the above three, two more aspects of the nature of hetu, viz Abādhita-viṣayatva (absence of counterbalancing hetu) and Asat-Pratipakṣatva. The Jainas criticise all these views of Naiyāyikas and Buddhists. They admit that only the anyathanupopa-

nntva, also called avinābhāva or Vyāpti is the only characteristic of a Valid hetu.

(5) *Āgama* (verbal testimony) is the fifth type of parokṣa pramāṇas. It is knowledge of objects derived from the words of a reliable person. A reliable person is one, who knows the object as it is and states it as he knows it. Such a person can never tell a lie. He is free from attachment and aversion. His words are in harmony with their objects. They do not contradict the nature of their object. He is called Āpta.

The words of an Āpta are called Āgama. The Jainas believe that their prophets were Āptas and therefore they accepted Āgamas as an independent pramāṇa. They did not restrict the definition of Āpta to the field of spiritual experiences and attainments. An āpta may according to Jaina logicians, be any authority on the subject even if it is only a secular subject.

All Indian Philosophers except the Cārvākas have recognised it as a source of valid knowledge. But there has raged a controversy as to whether it is an independent source of knowledge or merely a case of inference while the rest consider it to be an independent source of knowledge. As a matter of fact it should not be considered as a part of anumāna, since, unlike anumāna it arises without having perceived signs and their concomitance.

According to the Jaina logicians verbal testimony is of two kinds (1) Secular (Laukika) and (2) non-Secular (Lokottara). The Testimony of Janaka and others is secular. Testimony of Tīrthaṅkaras is non-secular.

Conclusion :

Let us now put down in short the points that emerge from this whole discussion. According to the early Jaina Literature, knowledge is divided into pratyakṣa and Parokṣa. Although knowledge is divided as pratyakṣa and paraksa, yet the words pratyakṣa and parokṣa are used in different sense.

The later Jaina logicians also divided knowledge as pratyakṣa and parokṣa. According to them pratyakṣa is of two kinds, while parokṣa is

of five kinds : Smṛti, pratyabhijñā, tarka, anumāna and āgama. They accepted each of these five kinds of knowledge as separate pramāṇa. But according to Naiyāyikas tarka is only helpful in removing doubts about concomitance and is not independent organ of knowledge. They are not ready to accept memory as an independent pramāṇa. But the Jainas considered both memory and Tarka as a separate pramāṇa. Therein lies the novelty of Jainism.

References ;

1. Pramāṇa-Naya-Tattvālokālaṁkāra—by Vādi Devasuri.
2. Jaina Tarka Bhāṣā—by Yaśovijaja.
3. Jainism in Buddhist literature—by Bhagchndra Jain Bhaskar.
4. A Primer of Indian Logic—by Kuppuswami Sastri.
5. Jaina Theory of Perception—by Pushpa Bothra.

THE PHILOSOPHICAL FOUNDATION OF RELIGIOUS TOLERANCE IN JAINISM

Dr. Sagarmal Jain

What is True Religion

The ultimate end in view of all religions is to ensure peace and happiness for the individual and to establish harmony within human society. However, as is known from history, countless wars have been faught in the name of religion. The religion thus remains accused for the inestimable amount of bloodshed of mankind. Of course, it is not the religion but the fundamentalist and hence extremist and rigid outlook of the so-called men of religion which is responsible for this horrible consequences. At present religion as such is largely shoved into the background or at best used in the service of political ideologies. If one believes that only his Faith, his mode of worship, and his political ideologies are the right means for securing peace and happiness for mankind, then he cannot be tolerant to the viewpoints of his opponents. The immediacy therefore is to develop tolerance to, and friendship for others. It is the only approach by which we can generate peace and harmony inside human society.

Can religion as a category, of which Jainism is a part, meet with this challenge of our times? Before this question can be answered we must make a distinction between a true and a false religion. Because a true religion never supports violence, intolerance and fanatical outlook and it cannot *per se* be made responsible for the ignominious acts committed in the name of religion by such religious leaders who want to serve their vested interest. The barbarity committed in the past and perpetrated in the present in the name of religion is due very largely to the intolerance and fanaticism of the so-called religious leaders and their ignorant followers.

The only way of freeing oneself from this sordid situation is to comprehend the true nature, indeed to grasp the "essence" of religion

---

Paper read at Assembly of the World's Religions MCA fee New Jesey (U.S.A)

and to develop tolerance toward and respect for other's ideologies and faiths.

For the Jainas, a true religion consists in the practice of equanimity[1] and its foundation is the observance of non-violence.[2] In the *Ācārāṅga-sūtra*, the earliest Jaina text (*c.* late 4th cent. B. C.), we come across these two definitions of religion : Equanimity is the essence of religion, while the observance of non-violence is its external exposition or a social aspect of religion. The *Ācārāṅga* mentions that practising of non-violence is the true and eternal religion.

Jainism, since its inception, believes in and preaches for peace, harmony, and tolerance. It has been tolerant and respectful toward other faiths and religious ideologies throughout its history of existence. In Jainism one hardly comes across instances of religious conflicts involving violence and bloodshed. At most one meets with instances of disputations and strongly worded debates concerning ideological disagreements. The Jaina men of learning, while opposing the different ideologies and religious standpoints, fully paid regard to them and accepted that the opponents' convictions may also be valid from a certain standpoint.

Intense Attachment, the root of intolerance

Among the causes that generate fanaticism and intolerance the blind faith is the principal; it results from Passionate attachment and hence uncritical or "unexamining" outlook. Attachment (mūrchā) according to the Jainas, is the cause of bondage. It causes perverse attitude. In Jainism various types of attachment are enumerated; among them *darśana-moha/dṛṣṭirāga* (blind faith), due to its very disposition, has been rackoned "paramount". In point of fact it is considered central in religious intolerance. It leads one's attitude toward a strong bias for one's own, and against other's religion. Non-attachment is therefore considered as a pre-condition for the right attitude or perception. A perverse, and hence defiled attitude renders it impossible to view the things rightly, just as a person wearing coloured glasses or suffering from jaundice is unable to see the true colour of objects as they are. "Attachment and hatred are the two great enemies of philosophical thinking. Truth can reveal itself to an impartial thinker."[3] Non-attachment, as

Jainas hold, is not only essential, it is imperative in the search of truth. One who is unbiased and impartial can perceive the truth of his opponents's ideologies and faiths and thus can possess deference to them. Intense attachment unfailingly generates blind faith in religious leaders, dogmas, doctrines and rituals and consequently religious intolerance and fanaticism come into existence.

Jainism holds that the slightest even pious attachment, towards the prophet, the path, and the scripture is also an hindrance to a seeker of truth and an aspirant of perfection. Attachment, be it pious or impious, cannot be without aversion or repulsion. Attachment results in blind faith and superstition and repulsion consequences into intolerant conduct. The real bondage, as Jainas confirm, is the bondage due to attachment. A person who is in the grip of attachment cannot rid of imperfection. Gautama, the chief disciple of Lord Mahāvīra, failed to attain omniscience in the lifetime of Mahāvīra on account of his pious attachment towards Mahāvīra. So is the case with Ānanda, the chief disciple of Lord Buddha, who could not attain arhathood in the Life-time of his "Śāstā". Once Gautama asked Mahāvīra : "Why am I not able to attain the perfect knowledge while my pupils have reached that goal" Lord answered 'Oh : Gautama; it is your pious attachment towards me which obstructs your getting perfect knowledge and emancipation.[4]" The Jainas therefore laid stress on the elimination of attachment, the root-cause of bias and intolerance.

Reason, The check-post of blind faith

Though in Jainism right faith plays an important role—it is one of its three "jewels"—it is the blind faith, which causes intolerance. Jainism therefore does not support blind faith. Jaina thinkers maintain that the right faith should be followed by right knowledge. The faith seconded by right knowledge or truthful reasoning cannot be blind one. According to Jaina thinkers, reason and faith are complementary and there actually is no contention between the two. Faith without reason, as the Jaina thinkers aver, is blind and reason without faith is unsteady or vacillating. They hold that the religious codes and rituals should be critically analysed. In the Uttarādhyayana-sūtra, Gautama, the chief disciple of Mahāvīra strongly supports this view before Keśī, the pontiff of the church of Jina

Pārśva. Said he : "the differences in the Law must be critically evaluated through the faculty of reasoning. It is the reason which can ascertain the truth of Law".[5]

If one maintains that religion has to be solely based on faith and there is no place for reason in it, then he will unfailingly develop an outlook that only his prophet, religion, and scripture are true and others' prophets, religions and scriptures are false. He will also firmly believe that his prophet is the only saviour of mankind; his mode of worship is the only way of experiencing the bliss and the Laws or Commands of his scripture are only the right one and thus he remains unable to make a critical estimate of his religious prescriptions. While one who maintains that the reason also plays an important role in the religious life, will critically evaluate the pros and cons of religious prescriptions, rituals and dogmas. An "attached" or biased person believes in the dictum 'Mine is true'. While the detached or unbiased person believes in the dictum 'Truth is mine'.

Guṇaratnasūri (early 15th cent. A. D.) in his commentary on the Ṣaḍdarśana-samuccaya of Haribhadrasūri (*c.* 3rd quarter of the 8th cent. A D.) has quoted a verse, which explains : "A biased person tries to justify whatever he has already accepted, while an unprejudiced person accepts what he feels logically justified."[6] Jainism supports "rational thinking". For supporting the rational Jaina outlook in religious matters Ācārya Haribhadra says; "I possess no bias for Lord Mahāvīra and no prejudice against Kapila and other saints and thinkers: whosoever is rational and logical ought to be accepted'[7]. While describing the right-faith Amṛtacandra (*c.* early 10th cent. A. D.) condemns three types of Idols, namely superstitions relating to deities, path, and scriptures.'[8] Thus, When religion tends to be rational, there will hardly be any room for intolerance. One who is thoroughly rational in religious matters, certainly would not be rigid and intolerant.

Non-absolutism—The Philosophical Basis of Tolerance

Dogmaticism and fanaticism are the born children of absolutism. An extremist or absolutist holds that whatsoever he propounds is correct and what others say is false, while a relativist is of the view that he and his opponent both may be correct, if viewed from two different angles

and thus a relativist adopts a tolerant outlook towards other faiths and ideologies. It is the doctrine of *anekāntavāda* or non-absolutism of the Jainas on which the concept of religioust olerance is based. For the Jainas non-violence is the essence of religion from which the concept of non-absolutism emanates. Absolutism represents "violence of thought", for, it negates the truth-value of its opponent's view and thus hurts the feeling of others. A non-violent search for truth finds non-absolutism.

Jaina thinkers are of the view that reality is a complex one[9]. It has many facets, various attributes and various modes. It can be viewed and understood from different angles and thus various judgements may be made about it. Even two contradictory statements about an object may hold true. Since we are finite beings, we can know or experience only a few facets of reality at one time. The reality in its completeness cannot be grasped by us. Only a universal-observer-Sarvajña can comprehend it completely. Yet even for an Omniscient it is impossible to know it and to explain it without a standopint or viewpoint"[10]. This premise can be understood from the following example. Take it granted that every one of us has a camera for photographing a tree and we all use it. We can have hundreds of the photographs but still we find most portion of the tree photographically remains uncovered, and what is more, the photographs differ from each other unless they are taken from the same angle. So is the case with diversified human understanding and knowledge. We only can have a partial and relative view of reality. It is impossible for us to know and describe the reality without an angle or viewpoint. While every angle or viewpoint can claim that it gives a true picture of reality, each one only gives a partial and relative picture of reality. On the basis of partial and relative knowledge of reality one can claim no right to discard the views of his opponents as totally false. According to Jaina thinkers the truthvalue of opponents must be accepted and respected,

Non-absolutism of the Jainas forbids the individual to be dogmatic and one sided in approach. It pleads for a broader outlook and an open mindedness, which alone can resolve the conflcts that emerge from differences in ideologies and faiths. Satkari Mookerjee rightly observes that Jainas do not believe in the extremist *a priori* logic of the absolutists,

Pragmatically considered, this logical attitude breeds dogmatism and if carried a step further, engenders fanaticism, the worst and the villest passion of human heart".[11] For non-absolutism the views of the opponent are also true. Remarks Siddhasena Divakara (5th Cent. A.D.) "All schools of thought are valid when they are understood from their own standpoint and insofar as they do not discard the truth-value of others. The knower of non-absolutism does not divide them into the category of true and false. They become false only when they reject the truth-value of others."[12] It was this broader outlook of non-absolutism which made Jainas tolerant.

While expounding this tolerant outlook of the Jainas, Upādhyāya Yaśovijaya (17th cent. A. D.) mentioned "A true non-absolutist does not disdain to any faith and he treats all the faiths equally like a father to his sons. For, a non-absolutist does not have any prejudiced and biased outlook in his mind. A true believer of *syādvāda* (non-absolutism) is that who pays equal regards to all the faiths. To remain impartial to the various faiths is the essence of being religious. A little knowledge which induces a person to be impartial is more worthwhile than the unilateral vast knowledge of scriptures.[13]

Non-Personalism, A Keystone for Tolerance

It is the person-worship which makes the mind biased and intolerant. Jainism opposes the person-cult. For the Jainas, the object of veneration and worship is not a person but perfectness i e. the eradication of attachment and aversion. The Jainas worship quality or merit, not the person. In the sacred *namaskāra-mantra* of the Jainas, veneration is offered to the spiritual-posts such as *arhat, siddha, ācārya* and not the individuals like Mahāvīra, Ṛṣabha or anybody else. In the fifth *pada* we find that the veneration is paid to all the saints of the world. The words' loye' and 'Savva' demonstrate the generosity of the Jainas[14]. It is not the person but his spiritual attitude which is to be worshipped. Difference in name, according to the Jainas, is immaterial since every name at its best connotes the same spiritual perfection. Haribhadra in the *Yogadṛṣṭi-samuccaya* remarks that the ultimate truth transcends all states of wordly existence, called *nirvāṇa* and is essentially and necessarily "single" even if it be designated by different names lik Sadāśiva, Parabrahman, Siddhātmā, Tathāgata etc.[15] Not only in the general sense

but etymologically also they convey the same meaning. In the *Loka-tattva-nirṇaya* he says I venerate all those who are free from all vices and adorned with all virtures, be they Brahmā, Viṣṇu, Śiva or Jina[16]. This view is further supported by various Jaina thinkers of medieval period such as Akalaṅka, Yogindu, Mānatuṅga, Hemacandra and many others. While worshipping Lord Śiva the Jaina pontiff Hemacandra says : "I worship those who have destroyed attachment and aversion which are the seed of birth and death, be they Brahmā, Viṣṇu, Śiva or Jina."[17] It is important that though Hemacandra was a Jaina-saint, he composed a hymn in praise of Śiva. This liberalism is also maintained by latter Jaina-saints, who composed their works in Hindi or Gujarati like Ānandaghana and many others, till these days. In a Hindi couplet J. K. Mukhtar (20th cent.) says :

> Buddha vīra Jina Harihars Brahmā yā usako svādhīna kaho /
> Bhakti bhāva se prerita ho, yaha citta usi me līna raho //

The Door of Liberation open to All

Jainism holds that the followers of other sects can also achieve emancipation or perfection, if they are able to destroy attachment and aversion. The gate of salvation is open to all. They do not believe in the narrow outlook that "only the follower of Jainism can achieve emancipation, others will not." In the Uttarādhyayana there is a reference to anyaliṅga-siddhas, i. e. the emancipated souls of other sects.[18] The only condition for the attainment of perfection or emancipation, according to the Jainas, is to shun the vectors of attachment and aversion. Haribhadra, a staunch advocate of religious tolerance, remarks : "One, who can attain equanimity of mind will for certain get the emancipation whether he may be a Śvetāmbara or a Digambara or a Buddhist or any one else.[19] It is this broad outlook of the Jainas which makes them tolerant and stick to the non-violence of thought.

About the means of liberation, the Jainas are also broad minded. They do not believe that their mode of worship or their religious practices alone represent the way to reach the goal of emancipation. For them it is not the external modes of worship, but the right attitude and mental purity which makes religious practices fruitful. The *Ācārāṅga-sūtra* clearly mentions that the practice which are considered to be the cause

7

of bondage may be the cause of liberation also.[20] It is the intrinsic purity not the external practices, which makes the person religious. Haribhadra propounds that neither one who remains without clothes nor one who is white clad, neither a logician, nor a metaphysician, nor a devotee of personal cult will get liberation unless he overcomes his passions.[21] If we accept the existence of the diversity of modes of worship according to the time, place and levels of aspirants and lay stress on the intrinsic purity in religious matters, then certainly we cannot condemn religious practices of others as false. This liberalism of the Jainas on the methods of worship can be supported by the legends of the previous lives of Mahāvīra. It is said that Mahāvīra, in his previous existences, was many times ordinated as a monk of other sects, where he practised austerities and attained heaven.[22]

As for scriptures, the Jainas' outlook is likewise liberal. They firmly believe that a false scripture (mithyā-śruta) may be a true scripture (samyak-śruta) for a person of right attitude; and a true scripture may turn false for a person of perverse attitude. It is not the scripture but the attitude af the follower which makes it true or false. It is the vision of the interpretor and practitioners that counts. In the *Nandī-sūtra* this standpoint is clearly explained.[23] Thus we can say that the Jainas are neither rigid nor narrow minded in this regard.

References of Religious Tolerance in Jaina Works

References to religious tolerance are abundant in Jaina history. Jaina thinkers have consistently shown deference to other ideologies and faiths. In the *sūtrakṛtāṅga*, the second earliest Jaina work (c. 2nd cent. B. C.)", It is stated that those who praise their own faith and view and disparage those of their opponents, possess malice against them and hence will remain confined to the cycle of birth and death.[24] "In another famous Jaina work of the same period, the *Isibhāsiyāiṃ*, the teaching of the forty five renowned saints of Śramanical and Brāhmanical schools of thinking such as Nārada, Bhāradvāja, Gautama Buddha, Maṅkhali-Gośāla and many others have been presented with regard.[25] They are remembered as *arhatnsi* and their teachings are regarded as an *āgamā*. In the history of world reljgions there is hardly any example in which the teachings of the religious teachers of the opponent sects were included

in one's own scriptures with due esteem and honour. Evidently, it indicates the latitudinarian and unprejudiced outlook of the earliest Jaina thinkers. We also have a reference to religious tolerance in the *Vyākhyā-prajñpti*, one of the early works of the Jainas. When an old friend of Gautama, who was initiated in some other religious sect, came to visit him, Mahāvīra commanded Gautama to welcome him and Gautama did so.[26] In the Uttarādhyayana, it is stated that when Gautama, the chief disciple of Mahāvīra and Keśī, a prominent pontiff of Pārśvanātha's sect met at Kosāmbi, both paid due regard to each other and discussed the various problems dispassionately and in gentle and friendly manner about the differences of both the sects.[27]

Haribhadra has not only maintained this latitudinarian outlook of earlier Jainācāryas, but lent new dimension to it. He was born in the age when the intellectuals of the India were engaged in hair-splitting philosophical discussions and in relentless criticism of one other. Though he also critically evaluated the other philosophical and religious systems, his outlook was fully liberal and attempted to see the truth of his opponent's logic also. Here I would like to mention only a few examples of his religious tolerance and regard for others ideologies and faith.

In the *Sāstravārtā-samuccaya*, which is one of the foremost works illustrating Haribhadra's liberal outlook, it is mentioned that the great saint, venerable Lord Buddha preached the doctrines of momentariness (kṣaṇikavāda) non-existence of soul (anātmavāda) idealism (vijñānavāda) and nothingness (śūnyavāda) with a particular intention to vanish the 'mineness' and desire for worldly objects and keeping in view the different levels of mental development of his followers, like a good physician who prescribes the medicine according to the disease and nature of the patient.[28] He has the same liberal and regardful attitude toward Sāṁkhya and Nyāya schools of Brāhmanical philosophy. He maintains that naturalism (*Prakṛtivāda*) of Sāṁkhya and Īśvara *kartṛtvavāda* of the Nyāya school is also true and justified, if viewed from certain standpoint.[29] Further, the epithets such as the great saint (*mahāmuni*), the venerable (arhat), the good physician (*suvaidya*) used by him for Buddha and for Kapila shows his generosity and deference to other religious leaders. Haribhadra's crusade against sectarianism is unique and admirable in history of world-religions.

Alongwith these literary evidences there are some epigraphic evidences of religious tolerance of the Jainas. Some Jaina ācāryas such as Rāmkīrti and Jaymaṅgalasūri wrote the hymns in the praise of Tokalji and goddess Cāmuṇḍā, Jaina kings such as Kumārpāla, Viṣṇuvardhan and others constructed the temples of Śiva and Viṣṇu alongwith the temples of Jina.[30]

Finally, I would like to mention that Jainism has a sound philosopoical foundation for religious tolerance and throughout the ages, it practically had remained tolerant and regardful to other faiths and ideologies. Jainas never indulged in aggressive wars in the name of religion nor did they invoke divine sanction for the cruelities against the people of alien faiths. Though generally Jainas do classify religions in the heretic (mithyā-dṛṣṭi) and non-heretic (samyak-dṛṣṭi). Yet, mithyā-dṛṣṭi, according to them, is one who possesses one-sided view and considers others as totally false. While samyak-dṛṣṭi is the one who is unprejudiced and sees the truth in his opponents views also. It is interesting to note here that Jainism calls itself a union of heretic views (micchādaṁsana-samūth) Siddhasena (5th cent. A. D.) mentions "Be glorious the teachings of Jina which are the union of all the heretic views i.e. the organic synthesis of one-sided and partial views, essence of spiritual nectar and easily graspable to the aspirants of emancipation."[13]

Anandaghana, a mystic Jaina saint of the 17th cent. A.D. remarks that just as ocean includes all the rivers so does Jainism all other faiths. Further he beautifully expounds that all the six heretic schools are the organs of Jina and one who worships Jina also worships them.[32] Historically we also find that various deities of other sects are adopted in Jainism and worshipped by the Jainas. Ācārya Somadeva in his work Yaşastilak-campū remarks that where there is no distortion from right faith and accepted vows, one can follow the traditions prevailing in the country.[33]

Jainas believe in the unity of world religions, but unity, according to them, does not imply omnivorous unity in which all lose their entity and identity. They believe in that unity in which all the alien faiths will conjoin each other to form a organic whole without loosing their own independent existence. In other words it believes in a harmonious

co-existence or a liberal synthesis in which all the organs have their individual existence, but work for a common goal i.e. the peace of mankind. To eradicate the religious conflicts and violence from the world, some may give a slogan of "one world religion" but it is neither possible nor practicable so far as the diversities in human thoughts are in existence. In the Niyamasāra it is said that there are different persons, their different activities or *karmas* and different levels or capacities, so one should not engage himself in hot discussions neither with other sects nor one's own sect.[84]

Haribhadra remarks that the diversity in the teachings of the sages is due to the diversity in the levels of their disciples or the diversity in standpoints adopted by the sages or the diversity in the period of time when they preached, or it is only an apparent diversity. Just as a physician prescribes medicine according to the nature of patient, its illness and the climate so is the case of diversity of religious teachings.[85] So far as diversity in time, place, levels and understanding of disciples is inevitable, variety in religious ideologies and practices is essential. The only way to remove the religious conflicts is to develop a tolerant outlook and to established harmony among them.

At last I would like to conclude my paper by quoting a beautiful verse of religious tolerance of Ācārya Amitagati—

Sattveṣu maitriṃ guṇiṣu pramodaṃ
Kliṣṭeṣu jīveṣu kṛpāparatvaṃ
Mādhyasthyabhāvaṃ viparīta vrattau
Sadā mamātmā vidadhātudeva.[86]

Oh Lord ! I should be friendly to all the creatures of world and feel delight in meeting the virtuous people. I should always be helpful to those who are in miserable conditions and tolerant to my opponents.

References

1. Samiyāye dhamme āriehiṁ paveie. . . —Ācārāṅga, 1/8/4. Edited by Ātmāramji, Jain Sthānaka, Ludhiyānā, 1963.
2. Se bemi je aiyā, je ya paduppannā, je āgamissā arahaṃtā bhagavaṃto te savve evamāikkhaṃti. . . . . savve pāṇā . . . na haṃttavvā . . . esa dhamme suddhe, niie sāsae..., —Ācārāṅga, 1-4-1.
3. N. M. Tatia, Studies in Jaina Philosophy, p. 22, P. V. Research Institute, Vārāṇasī-5, (1958).

4. (a) Bhagavatī-Abhayadeva's vṛtti, 14/7. p. 1188, Ṛṣabhadeva keśarīmal, Ratlām, 1937.

   (b) Mukkhamagga pavannānaṃ sineho vajjasiṃkhalā vīre Jīvaṁtae jāao Goyamaṃ jaṃ na kevali—Quoted in Abhidhāna Rājendra, vol. II, p. 959 and Kalpasūtra ṭīkā-Vinayavijay, 127, p. 120.

5. Pannā samikkhae dhammaṃ /
   tattaṃ tatta viṇicchayaṃ //

   —Uttarādhyayana, 23/25, Sanmati Jñānapīṭha, Āgrā, 1972.

6. Āgrahībata ninīṣati yuktiṃ yatra tatra matirasya niviṣṭā /
   Pakṣapātarahitasya tu yuktiryatra tatra matireti nivesaṃ //

   —Quoted in Saḍdarśanasamuccaya-Guṇaratnakṛtaṭīkā, p. 461, Edited by Mahendra Kumar Jain, Bhārtiya Jñānapīṭha, Delhi, 2nd edition, 1981.

7. Pakṣapāto na me vīre, na dveṣaḥ kapilādiṣu yuktimadvacanaṃ yasya tasya Kārya parigrahaḥ—Lokatattvanirṇaya—Haribhadra, verse 38. Jain Granth Prakāśaka Sabhā, Ahmedābād, Vikram, 1964.

8. Loke śāstrābhāse samayābhāse ca devatābhāse
   nityamapi tattvarucinā kartavyamamūḍhadṛṣṭitvam // 26

   —Puruṣārtha siddhyupāya—Amaṛtacandra
   The Central Jaina Publishing House, Ajitāśram, Lucknow, 1933.

9. Anantadharmātmakameva tattvaṃ.... / 22

   —Anyayogavyavacchedadvātriṃśikā-Hemacandra.

10. Natthi ṇayahimvihūṇaṃ suttaṃ attho ya Jīṇavaye kiṃci.

    —Āvaśyaka Niryukti, 544.

    —Viśeṣāvaśyaka Bhāṣya, 2748. L. D. Institute of Indology, Ahmedābād, 1968.

11. Prof. Satkāri Mookerjee, Foundation of World Peace, Ahiṃsā and Anekānta. Vaiśālī Institute Research Bulletin No. 1, p. 229.

12. Ṇiyayavayaṇijjasaccā, savvanayā paraviyālaṇe mohā /
    Te uṇa ṇa diṭṭhasamao vibhayai sacca va aliye vā //

    —Sanmati Prakaraṇa, 1/28, —Siddhasena Jñānodaya Trust, Ahmedābād, 1963.

13. Yasya sarvatra samatā nayeṣu tanayeṣviva /
    tasyānekāntavādasya kva nyūnādhikaśemuṣī //
    Ten a syādvādamālaṃbya sarvadarśanatulyatām /
    mokṣoddeśāvi (dvi) śeṣeṇa yaḥ paśyati sa śāstravit // 70 //

    Mādhyasthyameva śāstrārtho yena taccāru siddhyati /
    sa eva dharmavādaḥ syādanyadbāliśavalganam // 71 //

Mādhyasthyasahitaṃ hyekapadajñānamapi pramā /
Śāstrakoṭiḥ vṛthaivānyā tatha coktaṃ mahātmanā // 73 //

—Adhyātmopaniṣat—Yaśovijaya, Śrī Jainadharmaprasāraka Sabhā, Bhāvanagara, 1st Ed., Vikram, 1965.

14. Ṇamo Arahaṃtāṇaṃ / Ṇamo siddhāṇaṁ / Ṇamo Āyariyāṇaṃ / Ṇamo uvajjhāyāṇaṃ / Ṇamo Loye Savva Sāhūṇaṃ /

—Vyākhyā prajñapti, 1/1 Mahāvīra Jaina Vidyālaya, Bombay.

15. Sadāśivaḥ paraṃ brahma siddhātmā tathateti ca /
Śabdaistad ucyate'nvarthād ekaṃ evaivamādibḥiḥ // 130 //

—Yogadṛṣṭisamuccaya—Haribhadra, Lālbhāī Dalapatabhāī Bhāratiya Saṅskṛiti Mandir, Ahmedābād, 1st Ed., 1970.

16. Yasyanikhilāśca doṣā na santi sarve guṇāśca vidyante /
brahmā vā viṣṇurvā haro jino vā namastasmai // 40 //

—Lokatattvanirṇaya—Haribhadra—Sri Jainagrantha prakāśaka Sabhā, Ahmedābād, Vikram 1994.

17. Bhavabījāṅkurajananā rāgādyaḥ kṣayamupāgatāyasya /
Brahmā vā viṣṇurvā haro jino vā namastasmai //

—Mahādeva stotra, 44 (Published in Paramārṣa Svādhyāya Grantha Saṃgraha).

18. Itthi purisasiddhā ya, taheva ya napuṃsagā / saliṃge annaliṃge ya gihiliṃge taheva ya / —Uttarādhyayana, 36 / 49.

19. Seyambaro vā āsambaro vā, buddho vā taheva anno vā /
Samabhāvabhaviyappā lahai mukkhaṃ na saṃdeho //

—Haribhadra, Quoted in Jaina, Bauddha aur Gītā kā Ācāradarśana, by Dr. Sāgarmal Jaina, p. 5, Vol. II, 1st Ed. 1982.

20. Je āsavā te parissavā, Je parissavā te āsavā—Ācārāṅga, 1 / 4 / 2.

21. Nāsāmbaratve na sitāmbaratve, na tarkavāde na ca tattvavāde /
na pakṣasevāaśrayena mukti, Kaṣāya mukti kila muktireva //

—Upadeśataraṅgiṇī, 1/ 8, p. 98, Haribhadra, Bhūrābhāī Harṣacandra, Vārāṇasī, V. S. 2437.

22. (a) Chassu vi pārivvajjaṃ.... /
Viśeṣāvaśyakabhāṣya, 1792, L. D. Institute of Indology, Ahmedābād 9, (1968).

(b) See also —Uttarapurāṇa—Guṇabhadra, 74 / 69-85, pp. 448-49. Bhārtīya Jñānapīṭha, Kāśi, 1954.

23. Eyāiṃ micchadiṭṭhissa micchattapariggahiyāiṃ micchasuyaṃ, eyāṇi ceva sammaddiṭṭhissa Sammattapariggahiyāiṃ, sammasuyaṃ, ahavā micchadiṭṭhissavi 'sammasuyaṃ', Kamhā ? Sammattaheuttaṇao, Jamhā te

micchaditṭhiyā, tehiṃ ceva samaehiṃ coiyā samāṇā keī, sapakkhaditṭhio vameṅti, se ttaṃ micchasuyaṃ.

Vṛti—etāni bhāratādīni śāstrāṇi mithyādṛṣṭeḥ mithyātvaparigṛhītāni bhavanti, tato viparītābhiniveśavṛddhihetutvān mithyāśrutam, etānyeva ca bhāratādīni śāstrāṇi samyagdṛṣṭeḥ samyaktvaparigṛhītāni bhavanti. Nandīsūtra, 72, p. 30. Śrī Mahāvīra Jaina Vidyālaya, Bombay, 1st ed. 1968.

24. Sayaṃ sayaṃ pasaṃsaṃtā, Garahaṃtā paraṃ vayaṃ /
je u tattha viussaṃti, Saṃsāraṃ te viussiyā //
—Sūtrakṛtāṅga, 1 / 1 / 2/ 23.

25. Devanāradena Arahata isiṇā buiyaṃ / —Isibhāsiyāiṃ, 1 / 1. See also the names of its various chapters, edited by Dr. Walther Schubring, L. D. Instt. of Indology, Ahmedābād-9, 1974.

26. He khaṃdayā ! Sāgayaṃ, Khaṃdayā ! Susāgayaṃ —Bhagavatī, 2 / 1.

27. Kesikumāra samaṇe goyamaṃ dissamāgayaṃ /
paḍirūvaṃ paḍivattiṃ sammaṃ saṃpaḍivajjai //
—Uttarādhyayan sūtra, 23 / 16, Sanmati Jñānpīṭha, Āgrā, 1st Ed.

28. Śāstravārtāsamuccaya, 6 / 464, 65, 67, L. D. Instt., Ahmedābād, 1st ed., 1969.

29. *Ibid.* 3 / 207 and 3 / 237.

30. Jaina Śilālekha Saṃgraha, vol. III, Introduction by G. C. Chaudharī. See also epigraphs of above mentioned book, vol. I, II and III, No. 181, 249, 315, 332, 333, 356, 507, 649, 710.

31. Sanmati tarka prakaraṇa, 3 / 69, Jñānodaya Trust, Ahmedābād, 1963.

32. Namijina stavan—Ānandaghana Granthāvalī, Śrī Jaina Śreyaskara Mannal, Mahesanā (1957).

33. Yaśastilaka—Somadevaśūri, p. 373, Nirṇaya Sāgar Press, Bombay.

34. Niyamasāra—Kundakunda, 155, The Central Jaina Publishing House, Lucknow, 1931.

35. Yogadṛṣṭisamuccaya (Haribhadra), L. D. Instt., Ahmedābād, 1st ed., 1970.

36. Sāmāyika Pāṭha 1-Amitagati. Published in Sāmāyikasūtra, sanmati Jñānapīṭha, Āgrā.

RELIGION OF MAN

Jagdish Sahai

Modern *Man* is so self-conceited that he considers it sheer waste of time to pause and think what he is, what this universe (of which he is just a part) is, and what relation he has with the Creator of this universe? These are all fundamental questions. So long as man refuses to think accurately over these things he cannot build a safe, strong, and sure edifice for his thoughts that can give him a clear perception of the goal towards which he must move. Because of this lack of understanding over the fundamentals of life itself, man has created more problems for himself than he has solved. Never was there such longing for world peace as today. In spite of the achievements in the scientific and other fields of human knowledge, man has failed to preserve his own dignity and integrity. Man's 'inhumanity' towards man still makes countless thousands miserable. It must be brought home to man that he is essentially a *Spiritual* being and that a society based on a materialistic conception of the universe is, like an inverted cone, in unstable equilibrium. Spiritual values alone give meaning and purpose to human life.

Man's life should be viewed as a whole. It is wrong to divide it into different compartments such as religious, social, political, and economic, as if each compartment is independent of the other. It is often said that religion is a personal matter between man and his Maker And it is also said that a *Secular State* has nothing to do with religion. Both these views are fallacious. Religion is not purely a 'private' affair. One is just on the path of religion when one begins to act in an impersonal way. Religion is and always shall be a *Vital fact* in man's life. A secular state will not be a *Truly* welfare State if its energies are not directed towards the raising of the spiritual solidarity and the moral tone of the people it governs. The destiny of *Nations* has over centred round the *Character* of individual men and women. Demoralization and degradation of character have preceded *Disintegration* of every civilization. A student of history knows that all the wealth and power of Western civilization did not save degenerate Rome. *Character* is the essence of *Religion*.

Essential Unity of All Religions

What is man's religion ? In answer to this question we find numerous *Faith* and *Philosophies* prevalent in the different communities of mankind. Just as Nature everywhere is *One*, but there is *Diversity* in it, even so Humanity throughout the world is one although every man differs from the others both in thought and conduct. In spite of this obvious diversity, we find that it is a common but powerful desire of man to conform to a particular mode of behaviour in the world. Incarnations, saints, prophets, seers, and sages have appeared in different parts of the world from time to time in order to teach men *Haw to behave in harmony* with the underlying spirit of the *Cosmos* These great souls, on the basis of personal experience, expounded the essential ideas and values in life and taught how these can be achieved. Their spiritual thought and teachings from the subject-matter of the scriptures and philosophies of the different *Fiths.* In addition to their moral and spiritual teachings, almost all the religious teachers and reformers of the world gave out a plan and a system of their own on which human society would best be organized. It was thus that every faith helped to establish customs and conventions, with rites and rituals, amongst the communities of mankind and gave birth to a particular type of civilization and culture which naturally differed from the others.

Although everyone, after studying the scriptures of the various faiths, can find out for oneself the essential unity underlying them all, the differences in their respective customs and conventions also become equally patent and obvious. For this reason, we often find that the followers of one faith harbour feelings of hatred towards those of other faiths. Every man considers his own religion to be not only right but superior to those of others. If a man, leaving aside the difference due to customs and conventions, were to try to grasp and live up to those spiritual truths that are essential to him for reaching the ultimate goal *Which is common to all humanity,* he is bound to love and extend full tolerance towards the followers of other faiths. Every religion, no matter of whatever label, can take man to this common goal. Therefore, all those who fight in the name of religion do not, in fact, understand what religion is. They stultify themselves by becoming victims of their one selfish, sectarian, and bigoted thoughts and actions. Man should ever

remember that he is a member of the *Human family first* and foremost and thereafter a follower of this or that religion. Religion is the *Way of life* that leads man to his ultimate goal. Since there is *Uniformity* in the *Spiritual teachings of all religions*, it is up to man to act in accordance with them in his life. Human life is replete with experiences-both good and bad-which go to make up man's fund of knowledge. Religion too is a matter of experience, resulting in the consciousness of the Highest Truth in which all that exists finds its ultimate refuge.

Three Fundamental Principles

If one probes into the ultimate Truth one will find that the essential teachings of all religions are the same, though they have been expressed in different words. This Truth is the true Religion of *Man.* Its foundations have been laid on the following three fundamental principles:

(1) Be good and do good—this will make for *Character.*

(2) Develop non-attachment and unselfishness—this will make for *Personality. An integrral* personality has to be built up on the sound foundation of *Self-sacrifice.*

(3) To acquire Supreme Knowledge is man's highest privilege; in fact, it is his ultimate goal. This will give him *Freedom*; it will make him *One* with the all-informing universal Spirit, also called 'God'.

To acquire such knowledge is to develop that consciousness in man which alone can give him a complete answer to the *Whys* and *Wherefores* of life on earth, viz. why a man takes birth and what is his ultimate goal ? This will also solve for man the mystery of God and creation.

The above principles can be briefly amplified as under :-

'To work you have a right but not to the fruit thereof', because you have no control over the latter. Man is free to act; he can act as he likes, but the fruit of his actions is not in his hands or within his power. Actions of one individual react on the actions of other individuals and *vice versa.* The inevitable effect of action and reaction is always there and willy-nilly we are mutually affected by it. Man's actions do not cease to be effective till they have borne fruit. No power of Nature can stop an action from bearing its fruit. There are some actions which bear fruit instantaneously. If the hand is put into the fire it will get burnt.

There are other actions which bear fruit after a period of time has elapsed. When a man takes physical exercise its fruit will result after some time. Even so it is possible that we may not get the fruit of many of our actions in our present life and have to reap them in our next life. Just as the wind, on its onward march from one place to another, takes with it the resultant of both the sweet and bad odours through which it has passed, in the same manner a man's *Ego*, at the time of death, leaves the physical body, taking with it the final outcome of his thoughts, actions, experiences, and will, acquired during the life that has just ended enter another body and start on a new chapter of life's journey with the former life's character-load as the starting point.

The way to Right Action

Man and his actions are inseparable. Man must work in order to live. But how ? A man should work without any selfish motive. He should be as self-less in his conduct as possible. This will help him in developing non-attachment. Selfless work is that which a man does without any motive of selfish and personal profit. All actions which go to gratify the 'I-ness' or the finite individuality of man are doubtless selfish. When man is deluded by the selfish thoughts of 'I' and 'mine', he becomes a slave to lust, anger and greed which impel him to commit the meanest of actions. The thought of depriving others of all wealth and power and bringing them under his possession, will dominate his whole life. But selfless service connotes impersonal action. In doing such impersonal action man sees his own good in the good of others. By working in this spirit he identifies himself with all other beings of the universe and does not consider the reality of their existence apart from himself. On the other hand, he feels that like all other beings he too is a part and parcel of the universe as a whole. Therefore, whatever action contributes to the good of the whole becomes a right action for him. Eevry action of his is done for the good of the whole and not for his personal individual self.

Who is the Doer of Action ?

Man being the essential part of Nature, works according to the nature within him. The soul of man, embodied in a human form, apparently limited by the initial character-load and the chain of individual experiences ordained by the Law of Karma (or the law of Cosmic Moral Order which affirms "as man sows so he reaps") strives to realize, during

the course of several lives, the *Real state* of its *Oneness* with the *Pure soul.* Man's nature no doubt influences his body and mind in accordance with the character-load with which he starts on his life's journey. But his mind is endowed with such wonderful powers of discrimination and dispassion that through his own strong will he can subdue his lower nature and refuse to allow the mind to become its slave. Man is *Divine* and is not confined to his body and mind alone. He partakes of the *Infinite.* Religion embraces the whole of life which is consecrates and realizes as a revelation of the *Divinity* in man. It is the from and substance of the highest type of life of which man is capable.

Duty and Service

It is through action that man reveals his *True self.* All action is *Duty,* for it must be performed. But one ought not to do any work under a sense of *Compulsion.* All work should be done with the conviction that it will do good to the whole of humanity. Let duties be sweetened with all-embracing love. One should be earnest in whatever one does and should not give any place to self-interest. Man should work for work's sake. This will make him unselfish. An action which is done under a sense of compulsion is devoid of free will, and a certain sense of pain results from its performance. Whatever duties a man is privileged to perform by virtue of his position in the scheme of life he should render them intelligently and diligently. Duties performed in a spirit of devotional love and service give man a wonderful experience of bliss which keeps him always cheerful. Performance of action in this manner is the most effective means of rendering real service to mankind.

Self-Abnegation in Service

Gradually an individual should widen his circle of service till he serves humanity. He should not expect any return for his service, for, service of fellow beings is service of one's own self This is true sacrifice. A person should ever enhance the limits of his service according to capacity. First comes the service of one's parents and those who are nearest to oneself; then of one's family and friends; then of fellow citizens and the community and the country, and ultimately of all mankind irrespective of any divisions. In rendering service, a person should always be particular to see that he is not doing it for the sake of more name and

fame or in expectation of any return. 'Do good and forget it with its peformance'. This principle will make selfless service possible. When man begins to see his own good in the good of others, performance of selfless service becomes the prime duty of everyone. In the very act of serving others man forgets his little self. This is true self-sacrifice.

What is Self ?

Mistaking the *Body* for the *self* lies at the root of all misery from which humanity has so far been suffering. This is responsible for creating insatiable desires in man, which breed dissensions, distrust, enmity, and all the evils and troubles that man is heir to in both his individual and corporate capacities. As fire cannot be quenched by pouring oil over it, which will make it burn all the more fiercely, the sensuous desires of the flesh only increase all the more by being gratified through self-indulgence. This is not the path of happiness. It brings only pain and misery. Happiness, bliss, and peace are attainable through spiritual realization, sublimation of desires, and the annihilation of that delusion which presents the gross body as the *self*. He who can merge his conditioned and limited self into the all-pervading universal Self, is truly happy in this world. Such a man alone can be the friend of all, the servant of all. None can set a limit to one's love for humanity except one's own pet sympathies and narrow predispositions. The highest catholicity and the utmost capacity for selfless service can exist side by side in the same individual. A society also can be constructed on such lines, for society is but an aggregate of individuals.

A man's interest can never be confined to the body alone. His Self, in fact, comprehends the whole universe as *One* with himself, because there is no meaning in considering man's existence *Apart* from the *Cosmos* as a whole. When he detaches his individual self from bodily attachments, he will comprehend the 'whole'. To comprehend the 'whole' is to *Love* one and all without distinction. In other words, it is to realize oneself in the 'whole' and the 'whole' in oneself. Truly, the word 'I' connotes not the individual little self but the omnipresent Soul or Self. The Self or Soul is one and the same in every being; so the 'I' cannot be more than one. Hence the individual soul is not apart from the real Self.

The Ideal of True Love

The realize this Self one must love all. Selfless love, with infinite sympathy, will overcome all objective and physical limitations. For, love is the unifying force which binds not only man to man but also man to the universe and to his Maker. The love of a nurse-maid towards another's child she is in charge of, is of the unattached and unselfish kind She feeds the child, loves it, plays with it, and is all kind towards it as if it is her own child. But, on being dismissed from service, she leaves the child, given up all attachment to it, and is ever willing to take service elsewhere and nurse another child. Similarly should one in the world behave in respect of all the things which one considers one's own and feels called upon to love and serve. Even as the nurse-maid looks after another's child in a spirit of non-attachment, keeps it safe and sound under her custody as a trust, and serves it with all the love she is capable of bestowing on it, so also should men learn to live and act with a deep sense of detachment, selfless love, and generous service and to view everything in our possession as a worthy trust from the Divinity, which we call God, remembering, at the same time, that HE can deprive us of anything when *he* so chooses and that we should not then feel pain or misery at the thought of loss or separation.

Pleasure and Pain and their Cause

Attachment brings transient waves of pleasure and pain. When our relation with other things is characterized by physical and sensuous attachment, and we, for some reason or the other, fail to obtain those things, we feel pain. If we obtain them, we feel pleasure. But such pleasure or pain lasts for a short while only. It is not and cannot be permanent. For, all the material things of the universe with which we get attached are, by their very nature, perishable. Therefore, the pleasure or pain that we derive by our attachment to the material objects of this universe fades away within a short time. However, from this transient experience of pleasure and pain, man learns the great truth of life which leads him towards real knowledge. In all living beings, and especially in man, there exists an intense desire for permanent pleasure or happiness. And a time comes in the life of every man when he begins to realize the unreality and transitoriness of pleasure and pain. Then he understands that by attachment to material things he can never get permanent happiness, and that if he seeks spiritual union (*Yoga*) with

that immortal Life-Force called God, who is the changeless *one* in this over-changing world of many, he can attain to that state of permanent happiness for which his whole being is constantly yearning. This state of permanent happiness or Bliss Absolute (Brahmananda) is the same as living *in tune with the infinite.*

In Salvation Lies Bliss

Unselfish work leads to purity of heart (Citta-Suddhi) and this in turn to *Spiritual Freedom* through elimination of the individual *Ego.* This is salvation or Self-realization or God-realization. In salvation lies the highest freedom and bliss; on attaining it, the individual's *Ego* dissolves completely and he becomes a Free Soul (*Jivnn-mukta*) who has achieved the one thing which is *permanent* and imperishable. When a man becomes unattached and unselfish, his actions do not *Force Fresh Shackles* of Karmic *Bondage.* Such performance of action and devotion to God leads the individual to the blissful state of salvation which is beyond words.

Universal Goodness Constitutes the Religion of Man

To acquire this blissful state one has to/act incessantly and lovingly. Every action needs to be tested on the *Touchstone* of universal goodness and *Moral Worth.* Any action which is right in accordance with *Truth* and Justice contributes to the awakening in man of universal goodness. Universal goodness is in itself *elevating*, and whatever elevates ennobles is *Man's Religion.* Elevation in every aspect of life forms the *Basis* of the whole science and *art of Religion*—elevation from ignorance to full knowledge, from the confined *Ego*-state to the *Free*-state of the *Soul.* It is the process of *Mans* going back (Nivritti) by conscious and determined effort, to the *Original Source* from which he has sprung. This one process is named variously by different seers and men of *God* in different parts of the world.

Man should fight man—is not what Religion teaches :
Man to be man must ever be humane;
Sense of humanity—the Brotherhood of *Man.*
And homage to *Almighty*—the Parenthood of God.
Are what any Religion worth the name aims at :
Therefore, it behoved not *Man* to decry Religion;
Realization by man of the *True Self*—the Great Truth—is its only goal.

शोध निबन्ध

हिन्दी खण्ड

विशेषावश्यक-भाष्य के पाठान्तरों, उत्कीर्ण प्राचीन अभिलेखों और इसिभासियाइं की भाषा के परिप्रेक्ष्य में

प्राचीन आगम-ग्रन्थों का सम्पादन

डॉ० के० आर० चन्द्र

जैन अर्धमागधी आगम ग्रन्थों में कुछ ऐसे ग्रन्थ हैं जिनकी रचना प्राचीन मानी जाती है, परन्तु उन ग्रन्थों की भाषा में अर्वाचीनता के भी दर्शन होते हैं। आगमों की अन्तिम वाचना पाँचवीं-छठीं शताब्दी में की गयी जब कि उनकी प्रथम वाचना का समय ई० पूर्व चौथी शताब्दी का माना जाता है। महावीर और बुद्ध समकालीन माने जाते हैं परन्तु उनके युग की भाषा से पालि भाषा के प्राचीनतम त्रिपिटक-ग्रन्थों और अर्द्धमागधी के प्राचीनतम आगम ग्रंथों की भाषा में बहुत अन्तर पाया जाता है, यहाँ तक कि सम्राट् अशोक के शिलालेखों में, भाषा का जो स्वरूप प्राप्त होता है, उससे भी काफी विकसित रूप अर्द्धमागधी आगम-ग्रन्थों में उपलब्ध हो रहा है। होना ऐसा चाहिए था कि कम से कम प्राचीनतम जैन आगम ग्रन्थों में सम्राट् अशोक के पहले का तथा प्रथम जैन वाचना के काल का यानि चौथी शताब्दी ई० पूर्व का भाषा-स्वरूप मिले परन्तु ऐसा नहीं है। भाषा की इस अवस्था का क्या कारण हो सकता है? आगमोद्धारक पूज्यमुनि श्रीपुण्यविजय जी ने कल्पसूत्र की प्रस्तावना में स्पष्ट कहा है कि समय की गति के साथ-साथ चालू भाषा के प्रभाव के कारण पूर्व आचार्यों, उपाध्यायों और लेहियों ने उन ग्रन्थों में जाने-अनजाने भाषा-सम्बन्धी परिवर्तन किये हैं जो उनके शिष्य-अध्येताओं को अनुकूल एवं सरल रहे होंगे। आगम-ग्रन्थों के शब्दों में वर्ण-विकार की जो बहुलता आज विभिन्न प्रतों में देखने को मिलती है वह इसी प्रवृत्ति का नतीजा है। इन विषमताओं के कारण आगमों के विभिन्न संस्करणों में एक ही शब्द के अनेक रूप अपनाये गये हैं। श्री शुब्रिग महोदय ने तो इस गुत्थी और उलझन से छुटकारा पाने के लिए और भाषा को एकरूपता देने के लिए मध्यवर्ती व्यंजनों का सर्वथा लोप ही कर दिया है चाहे चूर्णि अथवा ग्रन्थ की प्रतों में इस प्रकार का साक्ष्य मिले या न भी मिले। वर्ण-विकार की दृष्टि से ही नहीं परन्तु रूप-विन्यास की दृष्टि से भी कई ऐसे स्थल मिलते हैं जहाँ पर प्राचीन के बदले में अर्वाचीन रूप अपनाये गये हैं। शुब्रिग महोदय के सिवाय अन्य विद्वानों के संस्करणों में भी समानता एवं एकरूपता नहीं है। किसी में लोप अधिक है तो किसी में कम। श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई द्वारा प्रकाशित संस्करण में मध्यवर्ती व्यञ्जनों का लोप कम मात्रा में मिलता है परन्तु वहाँ के संस्करण में भी ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ पर मूल प्रतों एवं चूर्णि व टीका के आधार से अर्वाचीन की जगह पर प्राचीन शब्द या रूप स्वीकार किये जा सकते हैं। सम्पादन के नीति-विषयक नियमों में भी परिवर्तन की आवश्यकता प्रतीत होती है। यथा—अनेक प्रतियों में जो पाठ उपलब्ध हो उसे लिया जाय या प्राचीनतम प्रत में पाठ उपलब्ध हो उसे लिया जाय या चूर्णि का पाठ लिया जाय या टीकाकार का पाठ लिया जाय। अथवा भाषाकीय दृष्टि से जो रूप प्राचीन हो उसे अपनाया जाय?

प्रो० श्री एल० आल्सडर्फ महोदय यदि छन्द की दृष्टि से किसी शब्द की मात्रा को घटा या बढ़ा सकते हैं, ह्रस्व या दीर्घ कर सकते हैं और उसमें अक्षर बढ़ा या घटा सकते हैं तो इसी तरह से भाषा की प्राचीनता को सुरक्षित रखने के लिए क्यों न प्राचीन रूप ही स्वीकार किया जाना चाहिए। यदि किसी ग्रन्थ की प्राचीनता अन्य प्रमाणों से सुस्पष्ट हो तो फिर उसकी भाषा को भी प्राचीन रखने के लिए उपलब्ध आधारों के सहारे प्राचीन रूप ही स्वीकार किया जाना चाहिए। यह तो बिलकुल स्पष्ट है कि आगम ग्रन्थों की भाषा में ध्वन्यात्मक दृष्टि से बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ है। जैन लेहियों की प्रवृत्ति ही ऐसी रही है। इसका प्रबल साक्ष्य चाहिए तो हम विशेषावश्यक-भाष्य की प्रतों का अध्ययन करें। इससे इतना स्पष्ट हो जायेगा कि किसी को इस विषय में तनिक भी शंका करने का अवसर ही नहीं रहेगा।

पं० श्री दलसुखभाई मालवणिया द्वारा सम्पादित एवं ला० द० भा० सं० वि० मन्दिर, अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित वि० आ० भा० की कुछ विशेषताएँ हैं। इसके सम्पादन में जिन प्रतों का उपयोग किया गया है उनमें से सबसे प्राचीन जैसलमेर की ताड़पत्रीय प्रत है जिसका समय लगभग ई० सन् ९५० है। (इसके अतिरिक्त 'त' संज्ञक प्रत भी ताड़पत्रीय है। 'हे' और 'को' संज्ञक दो छपे हुए संस्करण हैं जो मलधारी हेमचन्द्र एवं कोट्याचार्य की टीका सहित हैं)। इन सबसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण जो प्रत मिली है वह है 'सं' संज्ञक जो स्वोपज्ञवृत्ति सहित है और उसका समय ई० सन् १४३४ है। स्वोपज्ञवृत्ति में हरेक गाथा का प्रथम शब्द मूल रूप में प्राकृत में दिया गया है और इससे इतना लाभ तो अवश्य है कि मूल रचनाकार ने प्राकृत शब्दों को किस स्वरूप में प्रस्तुत किया है उसे हम स्पष्ट रूप से जान सकते हैं। मूल ग्रन्थ के कर्त्ता आचार्य जिनभद्र का समय ई० सन् की छठीं शताब्दी माना गया है (स्वर्गवास ई० सन् ५९३) और जैसलमेर की प्रत जिस आदर्श प्रत पर से लिखी गयी थी उसका समय ई० सन् ६०९ है ऐसा श्री दलसुखभाई का मन्तव्य है। अतः वि० आ० भा० की जो प्राचीनतम प्रत मिली है वह रचनाकार से लगभग ३५० वर्ष बाद की ही है इसलिए रचनाकार की जो मूल भाषा थी उससे कोई अलग भाषा परिवर्तित रूप में इस प्रत में मिलने की सम्भावना कम ही रहती है। स्वोपज्ञवृत्ति में प्राप्त शब्दों के साथ तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जायेगा। ग्रन्थ के 'हे' एवं 'को' संज्ञक प्रकाशित संस्करणों के शब्दों में जो ध्वनिगत परिवर्तन मिलता है वह प्राकृत भाषा के विद्वानों एवं सम्पादकों के लिए ध्यान में लेने योग्य है।

वि० आ० भा० का ध्वनिगत विश्लेषण (गाथा नं० १ से १०० जिनमें सभी प्रतों के पाठान्तर दिये गये हैं)

(क) ग्रन्थ की स्वोपज्ञ वृत्ति में दिये गये हरेक गाथा के प्रारम्भिक शब्दों का भाषाकीय (ध्वनिगत) विश्लेषण।

	लोप		सघोष - अघोष		यथावत्	
म० अल्प प्राण	९	१३%	९	१३%	४९	७४%
म० महा प्राण	०	०%	६	३५%	११	६५%
संयोग	९	१०%	१५	१८%	६०	७२%

(ख) 'जे' प्रत में प्रत्येक गाथा का वही प्रारंभिक शब्द

	लोप		सघोष - अघोष		यथावत्	
म० अल्प प्राण	७	१०%	१२	१८%	४८	७२%
म० महा प्राण	०	०%	९	५३%	८	४७%
संयोग	७	८½%	२१	२५%	५६	६६½%

इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि स्वोपज्ञवृत्ति की तुलना में 'जे' प्रत की गाथाओं के प्रारम्भिक प्रथम शब्दों में ध्वनिगत परिवर्तन बहुत ही कम मात्रा में आगे बढ़ा है और यह अन्तर लगभग ५½% है। परन्तु 'जे' प्रत की १ से १०० गाथाओं के सभी शब्दों का विश्लेषण करने पर उनमें यह लोप ११½% है और यथावत् स्थिति ७०% है (आगे देखिए) जो स्वोपज्ञवृत्ति के साथ बहुत कम अन्तर रखता है।

१ से १०० गाथाओं के सभी शब्दों का विश्लेषण

	लोप				सघोष-अघोष				यथावत्				
(ग)	जे	त	हे	को	जे	त	हे	को	जे	त	हे	को	योग
क	३४	३५	३६	३६	२२	२१	२२	२२	४	४	२	२	५०
ग	०	०	०	०	०	०	०	०	२८	२८	२८	२८	२८
च	५	५	५	५	०	०	०	०	०	०	०	०	५
ज	३	३	३	३	०	०	०	०	०	०	०	०	३
त	१३	१५	१८५	१८५	१	१	०	०	१८४	१८२	१३	१३	१९८
द	६	२९	६२	६१	३३	८	०	०	३९	४१	१६	१७	७८
प	०	०	१	१	५०	५०	४९	४९	९	९	९	९	५९
य	१७	२०	३८	४०	०	०	०	०	७९	७६	५८	५६	९६
व	६	६	६	६	०	०	०	०	१४७	१४७	१४७	१४७	१५६
योग	८४	११३	३३६	३३७	१०६	८०	७१	७१	४९०	४८७	२७३	२७२	६८०

	स्पर्श-लोप				सघोष-अघोष				यथावत्				
(घ)	जे	त	हे	को	जे	त	हे	को	जे	त	हे	को	योग
ख	१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	०	१
घ	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	१	१	१
थ	२	३	३०	३०	२८	२७	०	०	०	०	०	०	३०
ध	२	३	४	५	०	०	०	०	३६	३५	३४	३३	३८

फ	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	१	१	१
भ	०	०	४	४	०	०	०	०	३६	३६	३२	३२	३६
योग	५	७	३९	४०	२८	२७	०	०	७४	७३	६८	६७	१०७

अल्पप्राण और महाप्राण दोनों का योग

८९, १२०, ३७५, ३७७ १४४, १०७, ७१, ७१ ५५४, ५६०, ३४१, ३३९ ७८७

विश्लेषण:—विभिन्न प्रतों और संस्करणों के अनुसार

लोप	जे	त	हे	को
अ० प्रा०	८४, १२½%	११३, १६½%	३३६, ५०%	३३७, ५०%
म० प्रा०	५, ५%	७, ७%	३९, ३६%	४०, ३६%
योग	८९, ११½%	१२०, १५%	३७५, ४८%	३७७, ४८%

यथावत्	जे	त	हे	को
अ० प्रा०	४९०, ७२%	४८७, ७०%	२७३, ४०%	२७२, ४०%
म० प्रा०	७४, ७०%	७३, ७०%	५८, ५३%	५७, ५३%
योग	५६४, ७०%	५६०, ७१%	३४१, ४३%	३३९, ४३%

सघोष-अघोष	जे	त	हे	को
अ० प्रा०	१०६, १६%	८०, १२%	७१, १०½%	७१, १०½%
म० प्रा०	२८, २६%	२७, २५%	०, ०%	०, ०%
योग	१३४, १८½%	१०७, १४%	७१, ९%	७१, ९%

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि वि० आ० भा० में लगभग ११% ही लोप प्राप्त होता है और यथावत् स्थिति ७०% है। छठीं शताब्दी की कृति में यह कैसे हो सकता है? इस अवस्था के लिए ऐसा माना जाता है कि उस काल में बढ़ते हुए संस्कृत के प्रभाव के कारण प्राकृत रचनाओं में तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक मात्रा में होने लगा था। जो कुछ भी हो एक बात स्पष्ट है कि नामिक विभक्तियों और क्रिया रूपों में 'त' का प्रयोग अधिक प्रमाण में मिलता है—सं० भू० कृ० 'त', पं० ए० व० 'तो', व० का० तृ० पु० ए० व, ति,' और मध्यवर्ती 'त' के कुल १९८ प्रसंगों में से मात्र एक स्थल पर 'त' का 'द' (दीसदि-५३) और लोप मात्र १३ स्थलों पर मिलता है जबकि 'त' की यथावत् स्थिति १८४ स्थलों पर उपलब्ध है। इस अवस्था का कारण यही हो सकता है कि रचयिता को भाषा का यही स्वरूप उस समय मान्य था। एक अन्य 'त' प्रत जो उपलब्ध है उसमें लोप १५% मिलता है और यथावत् स्थिति तो ७०% ही है। इनके साथ जब 'हे' एवं 'को' संस्करणों की तुलना करते हैं तो उनमें लोप ४८% और यथावत् स्थिति ४३% रहती है। घोषीकरण

का प्रमाण क्रमशः घटता जाता है :—'जे' में १८३, 'त' में १४ तो 'हे' और 'को' में मात्र ९ प्रतिशत ही रह जाता है। इससे स्पष्ट साबित होता है कि ग्रन्थ के मूल प्राकृत शब्दों में काल की गति के साथ लेहियों के हाथ ध्वन्यात्मक परिवर्तन किस गति से बढ़ता गया है। इस दृष्टि से वि० आ० भा० का यह विश्लेषण बहुत ही उपयोगी है। इसके आधार से हम विश्वास के साथ कह सकते हैं कि यदि वि० आ० भा० की भाषा में कुछ शताब्दियों के बाद इतना परिवर्तन आ सकता है तो फिर मूल आगम ग्रन्थों की भाषा में एक हजार और पन्द्रह सौ वर्षों के बाद कितना परिवर्तन आया होगा इसका अन्दाज सरलता से लगाया जा सकता है।

भाषा सम्बन्धी इस परिवर्तन के दो कारण रहे हैं—एक तो समकालीन भाषा का परिवर्तित रूप और द्वितीय व्याकरणकारों द्वारा प्रस्तुत किये गये भाषा सम्बन्धी नियम। प्राकृत भाषा के वैयाकरणों ने यदि ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से हरेक भाषा का स्वरूप निरूपित किया होता तो शायद यह परिस्थिति नहीं होती। व्याकरणों में आर्ष प्राकृत के कुछ उदाहरण तो अवश्य दिये गये हैं परन्तु मध्यवर्ती व्यंजनों का लोप (कुछ व्यंजनों के घोषीकरण के सिवाय) सर्वव्यापी सभी प्राकृत भाषाओं पर लागू हो जाता हो ऐसा फलित होता है; जबकि प्राचीन प्राकृत भाषाओं—मागधी, शौरसेनी अर्धमागधी आदि में इस प्रकार का लोप होना ऐतिहासिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। बड़े पैमाने पर लोप महाराष्ट्री प्राकृत में ही हुआ है और इस भाषा का काल ई० सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों का माना जाता है। अनेक प्राचीन लेखों में उत्कीर्ण भाषा-स्वरूप पर विचार करें तब भी यही फलित होता है। उदाहरण के तौर पर महावीर के ८४ वर्ष बाद में बडली (राज०) में उपलब्ध शिलालेख में मध्यवर्ती व्यंजन का लोप नहीं मिलता, नामिक विभक्ति—'ते' और 'ये' हैं, उसके स्थान पर 'ए' नहीं है। अशोक के शिलालेखों में ध्वनि विकार का प्रारम्भ हो गया है, घोषीकरण, अघोषीकरण एवं लोप का प्रमाण ५ से ६ प्रतिशत ही है। मौर्यकालीन अन्य शिलालेखों में भी यही प्रमाण है। खारवेल के शिलालेख में घोषीकरण बढ़ गया है। आठ में से छः बार 'थ' का 'ध' मिलता है हालाँकि वर्ण-विकार तो ५-६ प्रतिशत ही मिलता है। विभिन्न प्रकार के प्राचीन उत्कीर्ण लेखों से पता चलता है कि मध्यवर्ती व्यंजनों के लोप की प्रवृत्ति का प्रचलन उत्तर पश्चिम और पश्चिम भारत में सबसे पहले हुआ था। इतना ही नहीं परन्तु मध्यवर्ती 'न' के 'ण' में परिवर्तन भी इसी क्षेत्र की देन है। उत्तर-पश्चिम भारत में प्राप्त ई० सन् प्रथम शताब्दी के तीन लेखों में (पंजतर, कलवान और तक्षशिला; सरकार संस्करण, नं० ३२,३३,३४) के विश्लेषण से यह साबित होता है कि उनकी भाषा में लोप ३०%, यथावत् स्थिति ५३% और सघोष-अघोष १७% मिलता है) कुल लोप २७, यथावत् ४७, सघोष १३ और अघोष २ = (८९ प्रसंग)। इनमें प्रारम्भिक 'न' का 'ण' में परिवर्तन १००% है और मध्यवर्ती 'न' का ७५% मिलता है। पश्चिम भारत में नासिक, कण्हेरी और जुनर के लेखों में भी लोप एवं सघोष की प्रवृत्ति अधिक मिलती है। 'न' का 'ण' में परिवर्तन भी अधिक मात्रा में उपलब्ध हो रहा है।

इस ध्वन्यात्मक परिवर्तन की दृष्टि से 'इसिभासियाइं' का अध्ययन भी महत्त्वपूर्ण है। यह भी एक प्राचीन कृति मानी जाती है। शुब्रिंग महोदय द्वारा संपादित संस्करण में अध्याय नं. १,२,३, ५,११, २९ और ३१ में मध्यवर्ती लोप ११ से ३१% के बीच है, यथावत् स्थिति ४५ से ८१% है। इन सातों अध्ययनों का औसत है—लोप २७३%, यथावत् ६०३% तथा सघोष अघोष १२%। इसका संपादन मात्र दो प्रतों के आधार से किया गया है। पाठान्तरों की बहुलता नहीं है जो हमें

आगम ग्रन्थों में मिलती है। 'इसिभासियाइं' के कम प्रचलन के कारण इस ग्रन्थ की भाषा का विभिन्न हाथों से कायाकल्प न हो सका। यदि इसकी भी अनेक प्रतियाँ विभिन्न कालों में बनती गयी होती तो इसकी भी वही दशा होती जो अन्य प्राचीन आगम ग्रन्थों की हुई है। एक और विशेषता ध्यान देने योग्य है; इस संस्करण में मध्यवर्ती 'त' का आचारांग की तरह सर्वथा लोप नहीं किया गया है परन्तु अलग-अलग अध्ययनों में अलग-अलग मात्रा में मिलता है। लोप और यथावत् स्थिति क्रमशः इस प्रकार उपलब्ध हो रही है—अध्याय १—३२।६८, २—०।१००, ३—१५।८५, ५—२८।७२, ११—२७।७३, २९—४८।५२, एवं ३१—२१।७९। इन साक्ष्यों के आधार से श्री शुब्रिंग महोदय द्वारा सम्पादित आचारांग में उपलब्ध मध्यवर्ती व्यंजनों का ५८% लोप किस तरह स्वीकारा जा सकता है। उनके द्वारा प्रयुक्त ताड़पत्रीय प्रत (संवत् १३४८) में ही व० का० तृ० पु० ए० व० के प्रत्यय 'ति' का प्रयोग ५०% और उसी प्रकार 'इ' का प्रयोग ५०% (प्रथम अध्ययन के विश्लेषण के अनुसार) है। उन्होंने पाठान्तरों में 'ति' नहीं दिया है और सर्वत्र 'इ' को ही अपनाया है। श्री महावीर विद्यालय द्वारा प्रकाशित आचारांग में म० व्यंजनों का लोप २४% है परन्तु पाठान्तरों के आधार से ही ऐसे पाठ स्वीकार किये जाने योग्य हैं जिनमें वर्ण-लोप नहीं है।

इस अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राचीन ग्रन्थों की भाषा भी प्राचीन होनी चाहिए। कालान्तर में हस्तप्रतों में जो विकार आये वे सब त्याज्य माने जाने चाहिए। मूल ग्रन्थ की हस्तप्रतों, चूर्णि ग्रन्थ या टीका जो भी हो जिस किसी में भी यदि भाषाकीय दृष्टि से प्राचीन रूप मिलता हो और अर्थ की संवादिता सुरक्षित रहती हो तो उसी पाठ को स्वीकार किया जाना चाहिए। आगम-ग्रन्थों के सम्पादकों के सामने यही सुझाव है जो इस विश्लेषण से स्पष्ट हो रहा है कि किसी भी प्राचीन ग्रन्थ की विभिन्न कालों में जितनी अधिक प्रतिलिपियाँ उतरती गयीं उतने ही प्रमाण में उस ग्रन्थ की मूल भाषा में परिवर्तन भी बढ़ता ही गया।

विशेषावश्यक भाष्य की गाथा नं० १ से १०० के कतिपय प्रारंभिक शब्द

अब वि. आ. भा. के विभिन्न संस्करणों में प्रयुक्त कतिपय उन शब्दों की तुलनात्मक तालिका दी जा रही है जो एक से सौ गाथाओं के प्रारम्भिक शब्द हैं। इस तालिका से जो स्थिति सामने आती है वह इस प्रकार है :—

ग्रन्थ–प्रकाशन–वर्ष		1966 AD.	1966 AD.	1936 AD.	1914 AD.	लगभग दशवीं शताब्दी की प्रत	अज्ञात समय की प्रत
गाथा नं०	संस्कृत	मूलपाठ	स्वो० टी०	को०	हे०	जे०	त०
४१.	अतीतम्	अतीतं	अतीतं	अतीयं	अतीतं	अतीतं	अतीतं
२३.	अथवा	अधवा	अधवा	अहवा	अहवा	अधवा	अधवा
५०.	अथवा	अधवा	अधवा	अहवा	अहवा	अधवा	अधवा
५१.	अथवा	अधवा	अधवा	अहवा	अहवा	अधवा	अधवा
५६.	अथवा	अधवा	अधवा	अहवा	अहवा	अधवा	अधवा
७८.	अथवा	अधवा	अधवा	अहवा	अहवा	अधवा	अधवा
६५.	अनुमतम्	अणुमतं	अणुमतं	अणुमयं	अणुमयं	अणुमतं	अणुमतं
५२.	अभिधानम्	अभिधाणं	अभिधाणं	अभिहाणं	अभिहाणं	अभिधाणं	अभिधाणं
५७.	अभिधानम्	अभिधाणं	अभिधाणं	अभिहाणं	अभिहाणं	अभिधाणं	अभिधाणं
८२.	अवधीयते	अवधीयते	अवधीयते	अवहीयए	अवहीयए	अवधीयते	अवधीयते
२९.	आगमतः	आगमतो	आगमतो	आगमओ	आगमओ	आगमतो	आगमतो

गाथा० नं०	संस्कृत	मूलपाठ	स्वो० टी०	को०	हे०	जे०	त०
७३.	आदि	आदि	आदि	आइ	आइ	आदि	आदि
७५.	आदि	–आइ–	आदि	आइ	आइ	आति	आइ
२१.	इह	इध	इध	इह	इह	इध	इध
५१.	इह	इह	इह	इह	इह	इह	इह
५५.	इह	इह	इह	इह	इह	इह	इह
७७.	ऋजुसूत्री	उज्जुसुता	उज्जुसुता	उज्जुसुया	उज्जुसुया	उज्जुसुता	उज्जुसुता
५.	कृत	कत	कत	कय	कय	कत	कत
२४.	गालयति	गालयति	गालयति	गालयइ	गालयइ	गालयति	गालयति
३३.	चूतः	चूतो	चूतो	चूओ	चूओ	चूतो	चूवो
३६.	चूतादिभ्यः	चूताईएहिंतो	चूता०	चूथाईए०	चूयाईए०	चूयातीए०	चूताईए०
३.	ज्ञान	णाण	णाण	नाण	नाण	णाण	णाण
३०.	ज्ञानम्	णाणं	णाणं	नाणं	नाणं	णाणं	णाणं
४६.	ज्ञायक	जाणग	जाणग	जाणय	जाणय	जाणग	जाणग
८१.	ततः	ततो	ततो	तओ	तओ	ततो	ततो
१९.	त्रिधा	तिधा	तिधा	तिहा	तिहा	तिधा	तिधा
२८.	द्रवति	दवते	दवते	दवए	दवए	दवते	दवते
२८.	द्रूयते	दूयति	दूयति	दुयए	दुयए	दूयति	दुयए
८.	नमस्कारः	णमोक्कारो	णमोक्कारो	नमोक्कारो	नमोक्कारो	णमोक्कारो	णमोक्कारो
२३.	निपातात्	णिवातणातो	णिवातणातो	निवायणाओ	निवायणाओ	णिवातणावो	णिवातणातो
९७.	निबुध्यते	णिबुज्झति	णिबुज्झति	निबुज्झइ	णिबुज्झइ	णिबुज्झति	णिबुज्झति

गाथा नं०	संस्कृत	मूलपाठ	स्वो० टी०	को०	हे०	जे०	त०
५८	निवृत	णिव्वुत	णिव्वुत	निव्वुय	निव्वुय	णिव्वुत	निव्वुय
४७.	भूत	भूत	भूत	भूय	भूय	भूत	भूत
२२.	मङ्ग्यते	मगिज्जते	मंगिज्जते	मंगिज्जए	मंगिज्जए	मंगिज्जते	मंगिज्जते
८६.	मति	मति	मति	मइ	मइ	मति	मति
५७.	यथा	जध	जध	जह	जह	जध	जह
२०.	यदि	जति	जति	जइ	जइ	जति	जति
३०.	यदि	जति	जति	जइ	जइ	जति	जति
१००.	यदि	जति	जति	जइ	जइ	जति	जति
७२.	विवदन्ति	विवदंति	विवदंति	विवयंति	विवयंति	विवदंति	विवदंति
४९.	श्रुत	सुत	सुत	सुय	सुय	सुत	सुय
९८.	श्रुत	सुत	सुत	सुय	सुय	सुत	सुत
१००.	श्रुत	सुत	सुत	सुय	सुय	सुत	सुत
४०.	सूत्रस्य	सुतस्स	सुतस्स	सुअस्स	सुअस्स	सुतस्स	सुतस्स
४३.	हेतुः	हेतू	हेतू	हेऊ	हेऊ	हेतू	हेतू

ग्रन्थ के 'को' एवं 'हे' संस्करणो में मध्यवर्ती त, थ, द, ध, एवं क के बदले में य, ह, य, ह एवं य वर्ण क्रमशः मिलते हैं। स्पष्ट है कि मध्यवर्ती व्यञ्जनों का लोप अधिक मात्रा में पाया जाता है जैसा कि ऊपर पहले ही बतला दिया गया है। जब तक अन्य प्राचीन ताड़पत्रीय प्रतियाँ नहीं मिली थी तब तक इन संस्करणों को ही प्रमाणित माना जाता था और मध्यवर्ती व्यञ्जन-लोप-युक्त शब्द ही लेखक की भाषा हो ऐसा समझा जाता रहा परन्तु 'जे' प्रत मिलने से सारा तथ्य ही बदल गया। यह प्रत सबसे प्राचीन है और उसे अधिक प्रामाणिक माना जाता है जिसमें लेखक के ही शब्दों की वर्ण-व्यवस्था सुरक्षित है। इसमें मध्यवर्ती 'त' की यथावत् स्थिति होने के कारण किसी विद्वान् को यह शंका हो कि इसमें भी 'त' श्रुति आ गयी है तो उसका निराकरण इस बात से होता है कि ग्रन्थकार ने जो स्वोपज्ञ वृत्ति लिखी है उसमें भी मध्यवर्ती 'त' की वही स्थिति है। अतः बाद में 'त' आ गया हो ऐसा कहना उचित नहीं लगता। 'जे' प्रत के शब्दों और स्वोपज्ञ वृत्ति के शब्दों की वर्ण व्यवस्था में पर्याप्त समानता है यह ऊपर बतलाया जा चुका है। कोई यदि ऐसा कहे कि स्वोपज्ञ-वृत्ति की प्रत ई० स० १४३४ की है अतः उसमें भी 'त' श्रुति आ गयी होगी। इसके उत्तर में यह भी तो प्रश्न होता है कि तब फिर 'क' के लिए 'ग', 'थ' के लिए 'ध' और 'द' के लिए 'द' का प्रयोग दोनों प्रतों में मिलता है उसका क्या उत्तर होगा। अतः 'त' श्रुति की शंका करना निराधार बन जाता है। लेखक को जो मान्य थी वैसी ही वर्ण-व्यवस्था उन्होंने अपनायी है। 'को' एवं 'हे' संस्करणों में वर्ण-सम्बन्धी जो परिवर्तन पाया जाता है वह लेहियों द्वारा बाद में किया गया परिवर्तन है—लोप है—पश्चात् कालीन व्याकरणकारों का प्रभाव है—चालू भाषा का प्रभाव है ऐसा अकाट्य रूप से प्रमाणित हो रहा है। उन्होंने ही भाषा की प्राचीनता को बदला है जो दर्पण की तरह स्पष्ट हो रहा है। यह तो पाँचवीं-छठी शताब्दी में रचे गये एक ग्रन्थ की कहानी है तब फिर प्राचीन आगम ग्रन्थों की भाषा के साथ १५०० वर्षों में कितना क्या कुछ नहीं हुआ होगा यह कैसे कहा जा सकता है। उनके साथ भी यदि ऐसा ही हुआ है तो अभी तक के संस्करणों में मध्यवर्ती व्यंजनों के लोप को जो महत्त्व दिया है वह बिलकुल गलत है और भाषा की एकरूपता के नाम से (ध्वनिपरिवर्तन की दृष्टि से) कृत्रिम सिद्धान्त खड़ा किया गया है वह अस्वीकार्य बन जाता है। विद्वानों की भाषा और उपदेशक-सन्तों की भाषा में हमेशा अन्तर रहा है। उपदेशकों की भाषा में बहुलता रहती है जो लोकभाषा का सहारा लिये हुए होती है। क्या प्राचीन हिन्दी, प्राचीन गुजराती एवं प्राचीन राजस्थानी के साहित्य में ये सब तथ्य हमारे सामने नहीं आते हैं ? अतः अभी तक प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन में जो नीति अपनायी गयी है वह उचित है या उसे बदलने-सुधारने की आवश्यकता है इस विषय पर प्राकृत के अनुभवी विद्वान् अपने-अपने विचार प्रकट करें।

—प्राकृत विभाग
गुजरात विश्वविद्यालय अहमदाबाद.

जैन आगमों में निहित गणितीय अध्ययन के विषय

अनुपम जैन* एवं सुरेशचन्द्र अग्रवाल**

जैन परम्परा में तीर्थंकरों के उपदेशों एवं उन उपदेशों की उनके प्रधान शिष्यों (गणधरों) द्वारा की गई व्याख्या को समाहित करने वाले समस्त शास्त्र आगम की संज्ञा से अभिहित किये जाते हैं। वर्तमान में उपलब्ध समस्त आगमों की रचना ५वीं शती ई० पू० से ५ वीं शती ई० के मध्य जैन परम्परा के वरिष्ठ आचार्यों द्वारा भगवान् महावीर के उपदेशों के आधार पर की गयी है। जैनधर्म की दोनों धाराएँ (दिगम्बर एवं श्वेताम्बर) आगमों की नामावली के सन्दर्भ में एकमत नहीं हैं। जहाँ दिगम्बर परम्परा षड्खंडागम, कषाय प्राभृति एवं आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य को आगम के रूप में मान्यता देती है, वहीं श्वेताम्बर परम्परा देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण (४५३-४५६ ई०) की अध्यक्षता में सम्पन्न वल्लभी वाचना में स्खलित एवं विलुप्त होते हुए परम्परागत ज्ञान को आधार बनाकर लिखे गये अंग, उपांग साहित्य को आगम की मान्यता देती है। ये अंग, उपांग अर्द्धमागधी प्राकृत भाषा में निबद्ध हैं। यहाँ पर हम इन्हीं आगमों को आगम के रूप में चर्चा करेंगे।

जैन आगम ग्रन्थों में स्थानांग (ठाणं) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अंग साहित्य में यह तृतीय स्थान पर आता है। मूल रूप से लगभग ३०० ई० पू० में सृजित एवं ५ वीं शती ई० में अपने वर्त्तमान रूप में संकलित इस अंग के दसवें अध्याय में निहित १००वीं गाथा गणितज्ञों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस गाथा से हमें गणित के अन्तर्गत अध्ययन के विषयों की जानकारी मिलती है। परोक्ष रूप से यह माना जा सकता है कि ये विषय आगम में भी उपलब्ध होंगे, क्योंकि तीर्थंकर महावीर को संख्याज्ञान का विशेषज्ञ माना गया है[1] एवं आगम ग्रन्थ उनके परंपरागत ज्ञान के संकलन मात्र हैं। स्थानांगसूत्र में उपलब्ध यह गाथा स्थानांग के विविध मुद्रित संस्करणों[2] में निम्न प्रकार पाई जाती है।

दस विधे संखाणे पण्णत्ते तं जहा—

परिकम्मं ववहारो रज्जु रासी कलासवण्णे य।
जावंतावति वग्गो घणो य (त) तह वग्गवग्गो वि (कप्पो प० त-१) ॥

उपर्युक्त रूप के अतिरिक्त कई गणित इतिहासज्ञों ने इसे निम्न रूप में उद्धृत किया है।

परिकम्मं ववहारो रज्जु रासी कलासवन्ने (कलासवण्णे) या
जावंतावति वग्गो घनो ततह वग्ग वग्गो विकप्पो त ॥—(२)

---

* व्याख्याता (गणित) शासकीय महाविद्यालय, ब्यावरा (राजगढ़) म० प्र० ४६५६७४।

** रीडर, गणित विभाग, उच्चशिक्षा संस्थान, मेरठ, वि० वि० मेरठ (उ० प्र०)

१. गणितसारसंग्रह–मंगलाचरण १/१, पृ० १।

२. ठाणं पृ० ९२६ १०।१००।

(२) इस रूप में गाथा को दत्त[1], जैन[2] एवं उपाध्याय[3] ने उद्धृत किया है जबकि कापड़िया[4] ने इसे निम्न रूप में उद्धृत किया है।

परिकम्म (१) ववहारो, (२) रज्जु, (३) रासी, (४) कलासवन्ने, (५) य।
जावंतवति, (६) वग्गो, (७) घणो (८) त तह वग्गवग्गो (९) वि कप्पोत ॥ ३ ॥

ठाणं[5] में (१) की संस्कृत छाया निम्न प्रकार दी गई है।

परिकर्म व्यवहारः रज्जु राशिः कलासवर्ण च।
यावत् तावत् इति वर्गः घनश्च तथा वर्गवर्गोपि ॥ कल्पश्च ॥ ४ ॥

स्थानांग की इस गाथा की वर्तमान में उपलब्ध सर्वप्रथम व्याख्या अभयदेव सूरि (१०वीं शती ई०) द्वारा की गई। स्थानांग की टीका में उपर्युक्त गाथा में आये विषयों का अर्थ स्पष्ट करते हुये उन्होंने निर्धारित किया कि :—

१. परिकम्मं = संकलन आदि।
२. ववहारो = श्रेणी व्यवहार या पाटी गणित।
३. रज्जु = समतल ज्यामिति।
४. रासी = अन्नों की ढेरी।
५. कलासवण्णे = प्राकृतिक संख्याओं का गुणन या संकलन।
६. वग्गो = वर्ग।
७. घणो = घन।
८. वग्गवग्गो = चतुर्थघात।
९. कप्पो = क्रकचिका व्यवहार।

दत्त[6] (१९२९) ने लगभग ९०० वर्षों के उपरान्त उपर्युक्त व्याख्या को अपूर्ण एवं एकांगी घोषित करते हुए अपनी व्याख्या प्रस्तुत की। दत्त के समय में भी जैन गणित का ज्ञान अत्यन्त प्रारंभिक था एवं गणितीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण, वर्तमान में उपलब्ध ग्रन्थ उस समय तक अप्रकाशित एवं अज्ञात थे तथापि उनकी व्याख्या अभयदेवसूरि की व्याख्या की अपेक्षा तर्कसंगत प्रतीत होती है। उन्होंने उपर्युक्त दस शब्दों की व्याख्या निम्न प्रकार दी।

---

१. देखें सं०—३, पृ० ११९।
२. देखें सं०—८, पृ० ३७
इन्होंने कलासवण्णो के स्थान पर "कलासवन्ने" पाठ लिया है।
३. देखें सं—११ पृ० २६।
(आपने विकप्पो त को विकप्पोत रूप में लिखा है। इन दोनों पाठान्तरों से कोई अन्तर नहीं पड़ता। जबकि (१) एवं (२) के पाठों में·········'वि ॥ 'कप्पो य' तथा 'विकप्पो त' का अंतर द्रष्टव्य है।
४. देखें सं०—१०, पृ० १२।
५. ठाणं, पृ० ९२६।
६. देखें सं० ३, पृ० ११९-१२२।

१. अंक गणित के परिकर्म (Fundamental Operation)
२. अंक गणित के व्यवहार (Subject of Treatment)
३. रेखागणित (Geometry)
४. राशियों का आयतन आदि निकालना (Mensuration of Solid bodies)
५. भिन्न (Fraction)
६. सरल समीकरण (Simple Equation)
७. वर्ग समीकरण (Quadratic Equation)
८. घन समीकरण (Cubic Equation)
९. चतुर्थ घात समीकरण (Biquadratic Equation)
१०. विकल्प गणित या क्रमचय-संचय (Combination & Permutation)

दत्त द्वारा विषय की व्यापक रूप से समीक्षा किये जाने के उपरांत सर्वप्रथम कापड़िया (१९३७) ने इस विषय का स्पर्श किया किन्तु निर्णय हेतु अतिरिक्त सामग्री प्राचीन जैन गणितीय ग्रन्थों आदि के अभाव में आपने अपना निर्णय सुरक्षित रखा। आपने लिखा कि :—

It is extremely difficult to reconcile these two views especially when we have at present neither any acess to a commentary prior to the one mentioned above nor to any mathematical works of Jaina authorship which is earlier to Gaṇita Sāra Saṃgraha. So under these circumstances I shall be excused if I reserve this matter for further research.[1]

आयंगर (१९६७)[२] उपाध्याय (१९७१)[३] अग्रवाल (१९७२)[४] जैन (लक्ष्मीचंद) (१९८०)[५] ने अपनी कृतियों/लेखों में इस विषय का ऊहापोह किया है। स्थानांगसूत्र के विगत २-३ दशकों में प्रकाशित अनेक सटीक संस्करणों में अभयदेवसूरि की ही मान्यता का पोषण किया गया है। जैन विश्व भारती, लाडनूं से प्रकाशित संस्करण में ३ पृष्ठीय विस्तृत परिशिष्ट में इस विषय की विवेचना की गई है किन्तु वह भी परंपरानुरूप ही है। हम यहाँ क्रमिक रूप से परिकर्म, व्यवहार आदि शब्दों की अद्यावधि प्रकाशित व्याख्याओं की समीक्षा कर निष्कर्ष निकालने का प्रयास करेंगे।

परिकम्म (सं० परिकर्म)

परिक्रियते अस्मित इति परिकर्मः। अर्थात् जिसमें गणित की मूल क्रिया सम्पन्न की जाये उसे परिकर्म कहते हैं।[६] परिकर्म शब्द जैन वाङ्मय के लिये नया नहीं है। अंग साहित्य के अन्तर्गत दृष्टिवाद अंग (१२वां अंग) का एक भेद परिकर्म है। आ० कन्दकुन्द (द्वितीय-तृतीय शती ई०)

१. देखें सं० १०, पृ० १३।
२. देखें सं०–१३, पृ० २५-२७।
३. देखें सं०–११, पृ० २६।
४. देखें सं०–१, पृ० ३०-५७।
५. देखें सं०–८, पृ० ३७-४१, ४२।
६. देखें सं०–१, पृ० ३२।

ने षट्खण्डागम के प्रथम तीन अध्यायों पर १२००० श्लोक प्रमाण परिकर्म नामक टीका लिखी थी। वीरसेन (८२६ ई०) कृत धवला में 'परियम्म सुत्तं' नामक ग्रन्थ का गणित ग्रन्थ के रूप में अनेकशः उल्लेख हुआ है। महावीराचार्य (८५० ई०) कृत गणितसारसंग्रह का एक अध्याय भी परिकर्म व्यवहार है जिसमें अष्ट परिकर्मों की चर्चा है।[१] यद्यपि ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) ने २० परिकर्मों का उल्लेख किया है। तथापि भारतीय गणितज्ञों ने मौलिक परिकर्म ८ ही माने हैं जो कि ब्रह्मगुप्त के निम्नांकित २० परिकर्मों में से प्रथम ८ हैं।

१. संकलन (जोड़)	९–१३. पाँच जातियाँ (भिन्न संबंधी)
२. व्यकलन (घटाना)	१४. त्रैराशिक
३. गुणन	१५. व्यस्त त्रैराशिक
४. भाग	१६. पंच राशिक
५. वर्ग	१७. सप्त राशिक
६. वर्गमूल	१८. नव राशिक
७. घन	१९. एकादश राशिक
८. घनमूल	२०. भाण्डप्रतिभाण्ड

वस्तुतः मूलपरिकर्म तो संकलन एवं व्यकलन ही है। अन्य तो उनसे विकसित किये जा सकते हैं। मिस्र, यूनान एवं अरबवासियों ने द्विगुणीकरण एवं अर्द्धीकरण को भी मौलिक परिकर्म माना है; किन्तु भारतवासियों ने नहीं माना है,[२] क्योंकि दाशमिक स्थान मान पद्धति से भिज्ञ लोगों के लिए इन परिकर्मों का कोई महत्त्व नहीं है। अभिधान राजेन्द्र कोश में चूर्णि को उद्धृत करते हुए लिखा गया है कि परिकर्म गणित की वह मूलभूत क्रिया है जो कि विद्यार्थी को विज्ञान के शेष एवं वास्तविक भाग में प्रवेश के योग्य बनाती है। इनकी संख्या १६ है।[३] भारतीय गणितज्ञों के लिये ये परिकर्म इतने सरल एवं सहज थे कि उच्चस्तरीय ग्रन्थों में इनका कोई विशेष विवरण नहीं मिलता। इसी तथ्य के आधार पर दत्त महोदय ने लिखा है कि इन साधारण परिकर्मों में से अधिकांश का उल्लेख सिद्धांत ग्रन्थों में नहीं मिलता।

अग्रवाल ने लिखा है कि—

"इससे यह प्रतीत होता है कि गणित की मूल प्रक्रियायें चार ही मानी गई है—संकलन, व्यकलन, गणन एवं भजन। इन चारों क्रियाओं के आधार पर ही परिकर्माष्टक का गणित विकसित हुआ है।[४]

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है परिकम्म का अर्थ गणित की मूलभूत प्रक्रियायें ही हैं एवं परिकम्म शब्द का आशय अंकगणित के परिकर्म से ही है।

१. आपने अत्यंत सरल होने के कारण संकलन एवं व्यकलन की विधियों की चर्चा नहीं की है।

२. देखें सं०–४, पृ० ११८।

३. देखें सं०–३, पृ० २४।

४. देखें सं०–१, पृ० ३३।

२. **ववहारो (सं० व्यवहार)** :—

इस शब्द की व्याख्या अभयदेवसूरि ने श्रेणी व्यवहार आदि पाटीगणित के रूप में[1] तथा दत्त महोदय ने अंकगणित के व्यवहार रूप में की है। ब्रह्मगुप्त ने व्यवहार के ८ प्रकार बताये हैं।

१. मिश्रक व्यवहार,	५. चिति व्यवहार,
२. श्रेणी व्यवहार,	६. क्रकचिका व्यवहार,
३. क्षेत्र व्यवहार,	७. राशि व्यवहार,
४. खात व्यवहार,	८. छाया व्यवहार

महावीराचार्य के गणितसारसंग्रह में भी सभी प्रकरण उपलब्ध हैं उससे इनकी विषयवस्तु का सुगमता से निर्धारण किया जा सकता है। श्रेणी व्यवहार गणितके क्षेत्र में जैन-मतावलम्बियों का लाघव श्लाघनीय है तिलोयपण्णत्ति एवं धवला के साथ ही त्रिलोकसार के अन्तःसाक्ष्य[2] के अनुसार प्राचीन काल में मात्र धाराओं[3] पर ही एक विस्तृत ग्रन्थ उपलब्ध था। फलतः विभिन्न व्यवहारों में श्रेणी व्यवहार के प्रमुख होने के कारण शब्द के स्पष्टीकरण में उसको प्रमुखता देते हुए लिखना स्वाभाविक प्रतीत होता है। पाटीगणित शब्द तो जैन गणित सहित सम्पूर्ण भारतीय गणित में प्रचलित है। श्रीधर (७५० ई०) कृत पाटीगणित, गणितसार, गणिततिलक; भास्कर (११५० ई०) कृत लीलावती नारायण (१३५६ ई०) कृत गणितकौमुदी; मुनीश्वर (१६५८ ई०) कृत पाटीसार इस विषय के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में बीस परिकर्म एवं आठ व्यवहारों का वर्णन है। अतः कहा जा सकता है कि गणितसारसंग्रह की सम्पूर्ण सामग्री परिकर्म एवं व्यवहार इन दोनों में ही समाहित है।

वर्तमान में व्यवहारगणित शब्द का प्रयोग पाटीगणित की उस प्रक्रिया के लिए होता है जिसमें गुणक संख्या के योगात्मक खण्ड करके गुण्य से गुणा किया जाये। जिस समय बड़ी संख्याओं की गुणनविधि का प्रचलन नहीं हुआ था उस समय गुणक संख्या को कई समतुल्य खण्डों में विभाजित कर पृथक्-पृथक् गुणा करके उस गुणनफल को जोड़ दिया जाता था, किन्तु जैनों की गुणन क्रिया में दक्षता एवं गणितीय ज्ञान की परिपक्वता को दृष्टिगत करते यह अनुमान करना निरर्थक ही है कि व्यवहार गणित गुणन के इस सन्दर्भ में आया हो सकता है। उपाध्याय, व्यवहार गणित का अर्थ Practical Arithmatics करते हैं। जब कि Srinivas Iengar ने लिखा है कि 'Vyavahar means application of arithmatics to concrete problems (Applied Mathematics)' संक्षेप में ववहारो का अर्थ पाटीगणित के व्यवहार करना उपयुक्त है।[4]

३. **रज्जु** :—इस पारिभाषिक शब्द का विषय-सूची में उपयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अभयदेवसूरि ने इसका अर्थ रस्सी द्वारा की जाने वाली गणनाओं से सम्बन्धित अर्थात् समतल ज्यामिति से किया था।[5] दत्त ने इसको किंचित् विस्तृत करते हुए इसकी परिधि में सम्पूर्ण

१. श्रेणीनों व्यवहार विगेरे पाटीगणित प्रसिद्ध अनेक प्रकारे व्यवहार गणितेछे।
२. त्रिलोकसार, गाथा–९१।
३. धारा का अर्थ Sequence है।
४. देखें सं०–१३, पृ० ३२
५. राजवड़े जे संख्यान ते रज्जु कहवाय छे-ते क्षेत्र गणित छे।

ज्यामिति को समाहित कर लिया। अग्रवाल ने लिखा है कि—

"रज्जुगणित का अभिप्राय क्षेत्रगणित से है। क्षेत्रगणित मे पल्य सागर आदि का ज्ञान अपेक्षित है। आरम्भ में इस गणित को सीमा केवल क्षेत्र परिभाषाओं तक ही सीमित थी पर विकसित होते-होते यह समतल ज्यामिति के रूप में वृद्धिगत हो गई है।"[1]

आयंगर के अनुसार :—

Rajju is the ancient Hindu name for geometry which was called Sulva in the Vedic literature.

अर्थात् रज्जु रेखागणित की प्राचीन हिन्दू संज्ञा है जो कि वैदिक काल में शुल्व नाम से जानी जाती थी।

कात्यायन शुल्वसूत्र में ज्यामिति को रज्जु समास कहा गया है[2]।

प्रो० लक्ष्मीचन्द जैन ने रज्जु के संदर्भ में लिखा है[3] :—"इस प्रकार रज्जु के उपयोग का अभिप्राय जैन साहित्य में शुल्व ग्रन्थों से बिलकुल भिन्न है। रज्जु का जैन साहित्य में मान राशिपरक सिद्धान्तों से निकाला गया है और उससे न केवल लोक के आयाम निरूपित किये गये हैं किन्तु यह माप भी दिया गया है कि उक्त रैखिक माप में कितने प्रदेशों की राशि समाई हुई है। उसका सम्बन्ध जगश्रेणी से जगप्रतर एवं धनलोक से भी है।"[4]

आपने संदर्भित गाथा के विषयों की व्याख्या करते हुए रज्जु का अर्थ विश्व माप की इकाई लिखा है।

वस्तुत: उस स्थिति में जबकि व्यवहार के ८ भेदों में से एक भेद क्षेत्र-व्यवहार भी है और उसमें ज्यामिति का विषय समाहित हो जाता है एवं खात, चिति, राशि एवं क्राकचिक, व्यवहार के अन्तर्गत मेन्शुरेशन (Mensuration.) का विषय भी आ जाता है। तब क्षेत्रगणित के लिये स्वतन्त्र अध्याय की इतनी आवश्यकता नहीं रह गई जितनी लोक के प्रमाण विस्तार आदि से सम्बद्ध जटिलताओं, असंख्यात विषयक राशियों के गणित से सम्बन्धित विषय की। इन विषयों का व्यापक एवं व्यवस्थित विवेचन जैन ग्रन्थों में मिलता है। जबकि यह अन्य किसी समकालीन ग्रन्थ में नहीं मिलता। विविध धार्मिक-अर्द्धधार्मिक जैन विषयों के स्पष्टीकरण में इनकी अपरिहार्य आवश्यकता करणानुयोग अथवा द्रव्यानुयोग के किसी भी ग्रन्थ में देखी जा सकती है। एतद्विषयक गणित की जैन जगत् में प्रतिष्ठा का आकलन इस बात से भी किया जा सकता है कि हेमराज ने संख्यात, असंख्यात एवं अनन्त विषयक गणित पर १७वीं शताब्दी में गणितसार नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की। असंख्यात एवं अनन्त के जटिल विषयों को परिकर्म के अन्तर्गत मानना किंचित् भी उचित नहीं, क्योंकि परिकर्म में तो गणित (लौकिक गणित) की मूलभूत क्रियायें आती हैं।

१. देखें सं०–१, पृ० ३६।
२. देखें सं०–१३ पृ० २६।
३. रज्जु समास वक्ष्याम, कात्यायन शुल्वसूत्र १.१।
४. देखें सं०–८, पृ० ४५।

रज्जु, पल्य आदि की गणना सामान्य परिकर्मों से असंभव है।

घनांगुल, जगश्रेणी एवं प्रल्य को अपने सामान्य अर्थ में प्रयुक्त करने पर—

पल्योपम के अर्हच्छेद
असंख्यात

जगश्रेणी = ७ राजू = घनांगुल

यदि पल्योपम P होतो log2p/असंख्यात

राजू = $\frac{१}{७}$ घनांगुल

स्पष्टतः राजू (रज्जु) एक असंख्यात राशि[१] हुई। असंख्यात संकेन्द्री वलयाकार वृत्तों की श्रृंखला में अन्तिम स्वयंभूरमण द्वीप का व्यास रज्जु बताया गया है। फलतः इस विधि से भी इसका मान असंख्यात ही मिलता है।

प्रो० घासीराम जैन ने आइंस्टीन के विवादास्पद संख्यात फैलने वाले लोक की त्रिज्या के आधार से प्राप्त घनफल की लोक के आयतन से तुलना करके रज्जु (राजू) का मान प्राप्त किया। यह मान—

१.४५ × १०^{२१} मील एवं

१.६३ × १०^{२१} मील है। एक अन्य रीति से यह मान

१.१५ × १०^{२१} मील प्राप्त होता है[२]

किन्तु घासीराम जैन द्वारा उद्धृत मान अपूर्ण है, क्योंकि ये सभी कल्पनाओं एवं अभिधारणाओं पर आश्रित हैं। रज्जु को तो असंख्यात रूप में ही स्वीकार करना उपयुक्त है। यह स्वीकार करने में किंचित् भी संकोच नहीं होना चाहिये कि रज्जु शब्द शुल्व काल के तुरन्त बाद से भारतीय गणित में क्षेत्रगणित के सन्दर्भ में आया है। भले ही वह मापने वाली रस्सी रहा हो या मापन क्रिया। यह शब्द रेखागणित तथा त्रिभुज, चतुर्भुज की चारों भुजाओं के योग के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है।[३] तथापि यह आवश्यक नहीं है कि यह इस गाथा या सिद्धान्त ग्रन्थों में भी इसी अर्थ में आया हो। इस विषय के विस्तार में न जाकर हम यहाँ इतना कहना उचित समझते हैं कि प्रस्तुत गाथा में रज्जु शीर्षक हमें उस विषय की ओर इंगित करता है जिसमें लोक के विस्तार, लोक संरचना, जघन्य परीत एवं जघन्य युक्त एवं जघन्य असंख्यात का गणित समाहित है। यदि हम यह कहें कि रज्जु का प्रमाण लोकोत्तर प्रमाण की ओर इंगित करता है तो अनुपयुक्त न होगा। शब्दों के अर्थ काल परिवर्तन, विषय परिवर्तन, सन्दर्भ परिवर्तन से कितने बदल जाते हैं। यह विषय भाषाविज्ञान के वेत्ताओं हेतु नया नहीं है। हमारे विचार से रज्जु की व्याख्या में अभयदेव एवं दत्त दोनों ही असफल रहे हैं एवं लक्ष्मीचन्द जैन ने सही दिशा की ओर संकेत किया है।

---

१. देखें सं०—६, पृ० २२-२३।

२. देखें सं०—५, पृ० ९२।

३. देखें सं०—११ पृ० २१५, २१६।

रासी (सं० राशि) :—

इस शब्द की व्याख्या में अभयदेव एवं दत्त में गम्भीर मतभेद है। अभयदेव ने रासी का अर्थ अन्नों की ढेरी किया है[१] जबकि दत्त ने उनकी व्याख्या को पूर्णतः निरस्त करते हुए लिखा—

'The term rāsi appears in later Hindu works, except this last mentioned one (G. S. S.) and means measurement of mounds of grains. But I do not think that it has been used in the same sense in the cononical works for measurement of heaps of grain has never been given any prominence in later mathematical works and indeed it does not deserves any prominance.[२]

अर्थात् राशि शब्द गणितसार संग्रह के बाद के सभी ग्रन्थों में अन्नों की ढेरी के मापन के सन्दर्भ में आया है किन्तु मैं नहीं समझता कि यह प्राचीन सिद्धान्त-ग्रन्थों में भी इसी सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ होगा। अन्नों की ढेरी के मापन को बाद के ग्रन्थों में भी कोई महत्त्व नहीं दिया गया और न यह दिया जाने योग्य है।

उन्होंने आगे लिखा है कि राशि का अर्थ अन्नों की ढेरी संकुचित है एवं यह शब्द व्यापक रूप से ज्यामिति की ओर इंगित करता है। परवर्ती हिन्दू गणित ग्रन्थों में यह प्रकरण खात व्यवहार के अन्तर्गत आया है एवं राशि इसका एक छोटा भाग है।

प्रो० लक्ष्मीचन्द जैन ने एक स्थान पर रासी का अर्थ समुच्चय/अन्नों की ढेरी लिखा है।[३] हमारे विचार में सूरि एवं दत्त दोनों के अर्थ समीचीन नहीं हैं। समुच्चय अर्थ अनेक कारणों से ज्यादा उपयुक्त लगता है।

राशि शब्द की व्याख्या करते हुए जैन ने लिखा है कि इस पारिभाषिक शब्द पर गणित इतिहासज्ञों ने ध्यान नहीं दिया। राशि के अभिवृत्त—सेट (Set) जैसे ही हैं।[४] राशि के पर्यायवाची शब्द समूह, ओघ, पुंज, वृन्द, सम्पात, समुदाय, पिण्ड, अवशेष तथा सामान्य हैं। जैन कर्म एवं दर्शन सम्बन्धी साहित्य में वीरसेन (८२८ ई० लगभग) तक इसका उपयोग अत्यधिक होने लगा था। इसका उपयोग परवर्ती हिन्दू गणित ग्रन्थों में त्रैराशिक पंचराशि के रूप में भी हुआ है। अभिधान राजेन्द्र-कोष में राशि का प्रयोग समूह, ओघ, पुंज, सामान्य वस्तुओं का संग्रह, शालि, धान्यराशि, जीव, अजीव राशि, संख्यान राशि के रूप में बतलाया गया है। तिलोयपण्णत्ति (४७३-६०९) ई० में सृष्टि विज्ञान के सन्दर्भ में प्रयुक्त समुच्चयों हेतु राशि का अनेकशः उपयोग हुआ है।

किसी भी राशि के अवयव का उसी राशि से सदस्यता विषयक सम्बन्ध होता है। राशि की संरचना करने वाले ६ द्रव्य निम्न हैं :

१. जीव,	२. पुद्गल परमाणु,	३. धर्म
४. अधर्म	५. आकाश	६. कालाणु

१. धान्य बिगेरनो ढगलो तेना विषय वालुं संख्यान ते राशि पटिमां राशिव्यवहार नाम थी प्रसिद्ध छे।

२. देखें सं०–३, पृ० १२०।

३. देखें सं०–१, पृ० ३५।

४. देखें सं०–८, पृ० ४३।

राशि रचने वाली इकाइयाँ समय, प्रदेश, अविभागी, प्रतिच्छेद, वर्ग एवं सम्प्रदायबद्ध हैं।

अपने लेख[1] में जैन ने जैनागमों एवं उसकी टीकाओं में पाये जाने वाले समुच्चयों के प्रकार, उदाहरण लिखने की विधि संकेतात्मक विधि, पद्धति, उन पर सम्पादित की जाने वाली विविध संक्रियाओं का विवरण दिया है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन जैनगणित में आधुनिक समुच्चय गणित के बीज विद्यमान थे किन्तु समुचित पारिभाषिक शब्दावली (Terminology) के अभाव में आधुनिक चिन्तक उसे हृदयंगम नहीं कर पा रहे हैं। प्राचीन शब्दावली एवं एतद्विषयक वर्तमान शब्दावली में अत्यधिक मतभेद है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि राशि शब्द सन्दर्भित गाथा में समुच्चय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस तथ्य को अस्वीकार करने पर जैन गणित का एक अतिविशिष्ट एवं अद्वितीय क्षेत्र, कर्म सिद्धान्त का गणित, उपेक्षित रह जाता है। यह तथ्य भी हमारी विचारधारा को पुष्ट करता है।

५. कलासवन्ने (सं० कलासवर्ण)—भिन्नों से सम्बद्ध गणित को व्यक्त करने वाला यह शब्द निर्विवाद है क्योंकि वक्षाली हस्तलिपि से महावीराचार्य (८५० ई०) पर्यन्त यह शब्द मात्र इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जो संख्या पूर्ण न हो अंशों में हो उसे समान करना कला सवर्ण कहलाता है। इसे समच्छेदीकरण, सवर्णन और समच्छेद विधि भी कहते हैं। कला शब्द का प्रयोग तिलोयपण्णत्ति में भिन्न के अर्थ में हुआ है। जैसे एक बटे तीन को "एक्कला तिविहत्ता"[2] से व्यक्त किया गया है, अतः कला सवर्ण विषय के अन्तर्गत भिन्नों पर अष्ट परिकर्म, भिन्नात्मक श्रेणियों का संकलन प्रहसन एवं विविध जातियों का विवेचन आ जाता है।

६. जावंतावति (सं० यावत् तावत्)—इसे गुणाकार भी कहा जाता है। अभयदेवसूरि ने इसकी व्याख्या प्राकृतिक संख्याओं का गुणन या संकलन के रूप में की।[3] इसका निर्वचन व्यवहार रूप में करते हुए बताया गया कि यदि पहले जो संख्या सोची जाती है उसे गच्छ, इच्छानुसार गुणन करने वाली संख्या वाच्छ या इष्ट संख्या कहें तो पहले गच्छ संख्या को इष्ट संख्या से गुणा करते हैं, उसमें फिर इष्ट को मिलाते हैं, उस संख्या को पुनः गच्छ से गुणा करते हैं। तदनन्तर गुणनफल में इष्ट के दुगुने से भाग देने पर गच्छ का योग आ जाता है। अर्थात् यदि गच्छ = n, इष्ट = x तो प्राकृतिक संख्याओं का योग।

$$S = \frac{n(nx + x)}{2x}$$

इसी को विविच्छित, यादृच्छा, वाच्छा, यावत्-तावत् राशि कहते हैं। इस सम्पूर्ण क्रिया को यावत्-तावत् कहते हैं।

जैन ने लिखा है कि 'इस शब्द का प्रयोग उन सीमाओं को व्यक्त करता है जिन परिणामों को विस्तृत करना होता है; अथवा सरल समीकरण की रचना करनी होती है। इसका अर्थ जहाँ

१. देखें सं०–९, पृ० १।

२. तिलोयपण्णत्ति–२।११२।

३. 'जावं तावति वा गुणा कटौति वा एगटा' स्थानांग वृत्ति-पत्र ४७१।

तक वहाँ तक भी होता है।'[१] ......हिन्दू बीजगणित में इस पारिभाषिक शब्द का बड़ा महत्व है. इस शब्द का उद्‌भव या तो यदृच्छा अर्थात् विवक्षित राशि से अथवा वाच्छा (अर्थात् इच्छित) राशि से हुआ है? वक्षाली हस्तलिपि में इसका प्रयोग कूटस्थिति नियम को ध्वनित करने हेतु हुआ है। यह भी सुझाव प्राप्त हुआ है कि इसका सम्बन्ध अनिर्धृत (Indeterminate) अथवा अपरिभाषित अथवा अपरिभाषित इकाइयों की राशि से भी है। इस प्रकार जावं तावं से एक यह अर्थ भी ध्वनित होता प्रतीत होता है कि कोई भी संख्या को परिमित सीमा से लेकर उत्कृष्ट संख्येय तक ले जाते हैं तो जघन्य परीत असंख्येय के केवल एक कम होता है।[२]

आयंगर (१९६७) भी इस शब्द की व्याख्या करते समय जटिलता का अनुभव करते हैं वे लिखते हैं कि—

The Word Yāvat Tāvat is the word for the unknown quantity in ancient Hindu Mathematics and provides the algebric symbol Yā(या). It is difficult to account for this except by saying that it means the Science of Algebra in however redimentom form it may have existed. Besides the problem on indices in a general form. This subject may have included solutions of the problems of Arithmetics by assumi g unknown quantities simple Summations.[३]

अग्रवाल ने अपने शोध-प्रबंध में इस गाथा के ९ विषयों की विवेचना तो की है किन्तु यावत् तावत् को स्पर्श भी नहीं किया।[४] आखिर क्यों?

दत्त महोदय ने इस गाथा के प्रथम ५ शब्दों की अभयदेवसूरि द्वारा दी गई व्याख्यायें कतिपय संशोधनों सहित स्वीकार कर ली किन्तु बाद के पाँच शब्दों जावतावति वग्गो, घणोवग्ग वग्गो एवं विकप्पोत की व्याख्याओं को पूर्णतः निरस्त करते हुए लिखा है कि—

In the identification of the remaining terms (last five). The commentator is not only of no help but is, on the other hand, positively misleading.[५]

दत्त महोदय ने इस शब्द की व्याख्या करते हुए आगे लिखा है कि :—

I venture to presume that the term Yavat-Tavat is connected with the rule of False position which in the early stage of Science of Algebra in every country, was the only method of solving linear equations. It is interesting to find that this method was once given so much importance in Hindu Algebra That the section dealing with it was named after it.[६]

१. देखें सं० ८, पृ० ३७।
२. वहीं पृ० ४६।
३. देखें सं०–१३, पृ० २६।
४. देखें सं०–१०, पृ० ४८,४९।
५. देखें सं०–३, पृ० १२२।
६. देखें सं०–३, पृ० १२२।

इस प्रकार आपने यावत् तावत् को सरल समीकरण से सम्बद्ध किया। जो उचित ही है। क्योंकि—

$$S = \frac{n(x+x)}{2x}$$

में से x कामन लेकर अंश एवं हर में से काट देने पर यह बनता है जो कि प्राकृतिक संख्याओं के योग का सूत्र है। $S = \frac{(n)\ (n+i)}{2}$ यह विषय तो परिकर्म के अन्तर्गत आ ही जाता है। अतः दत्त की व्याख्या विचार अधिक तर्कसंगत है।

७·८-९ वग्गो, घणो, वग्गवग्गो (वर्ग, घन एवं चतुर्थ घात):—

अभिधान राजेन्द्र में इन तीनों शब्दों की व्याख्या आगमिक उद्धरणों सहित दी गई है जहाँ इनके अर्थ क्रमशः वर्ग करना, घन करना एवं वर्ग का वर्ग करना है। अग्रवाल ने भी अपने शोध-प्रबंध में वर्ग के उल्लेखों को संकलित किया है।[१] उन सबसे स्वाभाविक रूप में यह प्रतीत होता है कि ये शब्द निश्चित रूप से वर्तमान में प्रचलित अर्थों (ज्यामितीय अर्थ नहीं) में ही प्रयुक्त हुये हैं। किन्तु यहाँ भी हम अपने पूर्व तर्क को उद्धृत करते हैं जब वर्ग एवं घन करना ये दोनों क्रियायें मूल परिकर्मों में आ जाती हैं तब उन्हें नवीन विषय के रूप में प्रतिष्ठित करने का क्या औचित्य ? पुनः अनुयोगद्वार सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र आदि प्राचीन ग्रन्थों में जब घातांकों के सिद्धान्त उपलब्ध हैं एवं उनमें १२वीं घात तक के प्रयोग निर्दिष्ट हैं[२]—तब चतुर्थ घात को ही क्यों विशेष महत्त्व दिया गया ? धवला में निहित वर्गित संवर्गित की प्रक्रिया में २५६ तक की घात आ जाती है।[३] चतुर्थ घात निकालने की क्रिया वर्ग करने की क्रिया की पुनरावृत्ति के समतुल्य है। जैनाचार्य वर्ग एवं घन करने की अपेक्षा अधिक जटिल क्रियाओं वर्गमूल एवं घनमूल निकालने में विशेष सिद्धहस्त थे। यदि वर्ग एवं घन को स्वतंत्र विषय की मान्यता दी गई तो उन्हें भी दी जानी चाहिये। लेकिन ऐसा नहीं किया गया। आखिर क्यों ?

संभवतः उपर्युक्त प्रश्नों एवं अन्य कारणों को ही दृष्टिगत करते हुए दत्त ने भी लिखा कि—

'I have no doubt in my mind that 'Varga' refers to quadratic equation 'Ghan' refers to cubic equation and 'Vargavarga' to biquadratic equation'.

यद्यपि आज के उपलब्ध आगमों में हमें घन समीकरण एवं चतुर्थघात समीकरण के स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलते किन्तु वर्तमान में अनुपलब्ध ग्रन्थों में उनका पाया जाना अस्वाभाविक नहीं है। आगमिक ज्ञान के आधार पर रचित गणितसार संग्रह में तो ऐसे उल्लेख प्रचुर हैं अतः दत्त का कथन असत्य नहीं कहा जा सकता है। आयंगर[४] एवं जैन ने भी उनका समर्थन किया है।

---

१. अनुयोगद्वार सूत्र–१४२।

२. धवला, पुस्तक–३।

३. देखें सं० –३, पृ० १७२।

४. देखें सं० १३, पृ० २८।

१०. विकप्पोत या कप्पो (विकल्प या कल्प)—पाठ (१) को स्वीकार करते हुए अभयदेव-सूरि ने इसकी व्याख्या में लिखा है कि इससे लकड़ी की चिराई एवं पत्थरों की चिनाई का ज्ञान होता है।[1] पाटीगणित में इसे क्रकचिका व्यवहार कहते हैं। अभयदेव ने इसको उदाहरण से भी समझाया है।

स्थानांगसूत्र के सभी उपलब्ध संस्करणों में हमें यही पाठ एवं अर्थ मिलता है किन्तु दत्त, कापड़िया, उपाध्याय, अग्रवाल एवं जैन आदि सभी ने इसे (२) रूप में उद्धृत किया है एवं इसका अर्थ विकल्प (गणित) किया है। विकल्प एवं भंग जैन साहित्य में क्रमचय एवं संचय के लिये आये हैं। जैन ग्रन्थों में इस विषय को विशुद्धता एवं विशिष्टता के साथ प्रतिपादित किया गया है।

क्रकचिका व्यवहार, व्यवहारों का ही एक भेद होने तथा विकल्प (अथवा भंग) गणित के विषय का दार्शनिक विषयों की व्याख्या में प्रचुरता एवं अत्यन्त स्वाभाविक रूप से प्रयोग, यह मानने को विवश करता है कि विकल्पगणित जैनाचार्यों में ही नहीं अपितु प्रबुद्ध श्रावकों के जीवन में भी रच-पच गया था, तभी तो विषय के उलझते ही वे विकल्पगणित के माध्यम से उसे समझाने लगते थे। ऐसी स्थिति में विकल्पगणित को गणित विषयों की सूची में भी समाहित न करना समीचोन नहीं कहा जा सकता। उल्लेखनीय है कि विकल्प गणित कोई सरल विषय नहीं था तभी तो अन्य समकालीन लोगों ने इसका इतना उपयोग नहीं किया। जैन ही इसमें लाघव को प्राप्त थे। अतः विकप्पोत का अर्थ विकल्प (गणित) ही है।

विषय के समापन से पूर्व विषय से सम्बद्ध कतिपय अन्य महत्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख भी आवश्यक है। आगम ग्रन्थों में चर्चित गणितीय विषयों की जानकारी देने वाली एक अन्य गाथा शीलांक (९वीं श० ई०) ने सूत्रकृतांग की टीका में पुण्डरीक शब्द के निक्षेप के अवसर पर उद्धृत की है। गाथा निम्नवत् है—

परिकम्म रज्जु रासी ववहारे तह कला सवण्णे (सवन्ने) य ॥ ५ ॥
(पुद्गल) जावं तावं घणे य घणे वग्ग वग्गवग्गे य।[2]

टीका के सम्पादक महोदय ने उपर्युक्त गाथा की संस्कृत छाया निम्न प्रकार की है।

परिकर्म्मं रज्जु, राशि व्यवहारस्तया कलासवर्णश्च।
पुद्गलाः यावत्तावत् भवन्ति घनं घनमूलं वर्गः वर्गमूलं ॥[3]—(६)

(५) इससे स्पष्ट है कि इस गाथा में भी विषयों की संख्या १० ही है किन्तु उसमें स्थानांग में आई गाथा के विकप्पोत के स्थान पर पुग्गल शब्द आया है। अर्थात् यहाँ पुद्गल को गणित अध्ययन का विषय माना गया है, विकल्प को नहीं। शेष नौ प्रकार स्थानांग के समान ही हैं।[4]

---

१. कल्पछेद गणित करवतण्डे काष्ठानुं छेदन तेना विषयवालु जे गणित
से पाटियां क्राकच व्यवहार कहेवाय छे (स्थानांगवृत्ति)।

२. सूत्रकृतांग–श्रुतस्कन्ध–२, अध्याय–१, सूत्र–१५४।

३, देखें सं०–३ पृ० १२०।

४. ठाणं, पृ० ९९४।

बोस ने अपनी पुस्तक[१] में उपर्युक्त गाथा (६) को उद्धृत किया है किन्तु उसके आधार पर नीचे जो विषयों की सूची बनायी है उसमें पुद्गल को हटाकर विकल्प गणित को सम्मिलित कर दिया है अथवा यह कहा जाये कि स्थानांग वाली गाथा के विषयों को दे दिया। इसका क्या कारण है? संभवतः त्रुटिवश ऐसा हुआ है।

संस्कृत छाया को देखने से स्पष्ट है कि गणित अध्ययन के विषय ११ हैं, अर्थात् परिकर्म, व्यवहार, रज्जु, राशि, कलासवर्ण, पुद्गल, यावत् तावत्, घन, घनमूल, वर्ग, और वर्गमूल।

पुनः द्रष्टव्य है कि मूल गाथा (५) में कहीं कुछ ऐसा नहीं है जो मूल शब्द को ध्वनित करता हो। दत्त ने भी लिखा है—

There is nothing in the either form which could be informed a reference to roots (mūla). Above all by that interpretation, he has made the number of topics for discussion to be eleven against the express injuction of the Canonical works that they are all together ten. So we shall reject the rendering of the verse (Sanskrit version).[२]

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या पुद्गल को गणित अध्ययन का विषय माना जाये? इस संदर्भ में दत्त महोदय ने तो स्पष्ट लिखा है कि—

Pudgala as a topic for discussion in mathematics is meaningless.[३]

अर्थात् पुद्गल को गणित अध्ययन का विषय स्वीकार करना निरर्थक है।

किन्तु विचारणीय यह है कि यह निष्कर्ष आप के द्वारा तब दिया गया था जब कर्म सिद्धान्त का गणित प्रकाश में नहीं आया था। उस समय तक Relativity के संदर्भ में जैनाचार्यों के प्रयास भी प्रकाशित नहीं हुये थे। आज परिवर्तित स्थिति में यह निष्कर्ष इतनी सुगमता से गले नहीं उतरता। क्योंकि असंख्यात विषयक गणित, राशि गणित (Set theory) आदि का मूल तो पुद्गल ही है। मापन की पद्धतियाँ तो यहीं से प्रारम्भ होती हैं। एक तथ्य यह भी है कि शीलांक ने भी तो इसे किसी प्राचीन ग्रन्थ से ही उद्धृत किया होगा। लेकिन समस्या यह है कि पुद्गल को गणित का विषय स्वीकार करने पर विकल्प छूट जाता है। जबकि विकल्प तो अत्यधिक एवं निर्विकल्प रूप से जैन ग्रन्थों में आता है। यहाँ हमें बृहत्कल्प भाष्य की एक पंक्ति कुछ मदद करती है।

"भंग गणिताइ गमिकं"[४]

मलयगिरि ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि भंग (विकल्प) एवं गणित अलग-अलग हैं।[५]

संक्षेप में यह विषय विचारणीय है एवं अभी यह निर्णय करना उपयुक्त नहीं है कि पुद्गल को गणितीय अध्ययन का विषय स्वीकार किया जाये अथवा नहीं।

स्थानांगसूत्र के ही चतुर्थ अध्याय में एतद्विषयक एक अन्य गाथा प्राप्त होती है। गाथा निम्नवत् है—

१. देखें सं०-२, पृ० १५८।
२. देखें सं०-३, पृ० १७०।
३. वही, पृ० १२०।
४. वृहत्कल्प भाष्य, १४३।
५. देखें सं० १०, पृ० XIII।

चउविधि संखाणे पण्णत्ते तं जहा।
परिकम्म ववहारे रज्जु रासी ॥[१]—७

इस गाथा पर अद्यावधि किसी ने ध्यान नहीं दिया है। एक ही ग्रन्थ में दो प्रकार के उल्लेख क्यों हैं? संख्यान के चार प्रकार पिछले पृष्ठ पर उद्धृत दत्त के निष्कर्ष के प्रतिकूल हैं। क्या यहाँ संख्यान से कोई भिन्न अर्थ ध्वनित होता है? अथवा क्या यहाँ पर इंगित संख्यान के प्रकार कोई विशेष गुण रखते हैं? इस विषय पर अभी और व्यापक विचार विमर्श अपेक्षित है।

●

1. Agrawal, N. B. Lal — 'गणित एवं ज्योतिष के विकास में जैनाचार्यों का योगदान' आगरा वि० वि० में प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध १९७२।
2. Bose, D M. & Sen, S N — 'A Concise History of Sciences in India' I. N. S. A.—New Delhi. 1971
3. Dutt, B. B — 'The Jaina School of Mathematics' B. C. M. S. (Calcatta). 21 pp. 115-143, 1929
4. Dutt, B. B & Singh A. N. — 'हिन्दू गणित शास्त्र का इतिहास' (हिन्दी संस्करण) अनु० डा० कृपाशंकर शुक्ल—उ० प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, १९६७।
5. Jain, G. R. — 'Cosmology Old & New' (Hindi Ed) Bhārtiya Jñanpitha, New Delhi 1974.
6. Jain, L. C. — 'तिलोयपण्णत्ति का गणित' अन्तर्गत जम्बुद्दीवपण्णत्तिरागते, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर १९५०।
7. Jain, L. C. — 'Set Theory in Jaina School of Mathematics I. J. H. S (Calcutta), 8—1, pp. 1-27. 1973
8. Jain, L. C. — 'आगमों में निहित गणितीय सामग्री एवं उसका मूल्यांकन' 'तुलसी पूज्य' लाडनूं पृ० ३५–७४, १९८०
9. Jain, L. C. — Exact Sciences from Jaina Sciences. Vol. I Rajasthan Prakrita Bharati, Jaipur 1983.
10. Kapadia, H. R. — Introduction of Gorilo Tilak' Gaekwad Oriental Series, Baroda 1937.
11. Upadhyaya, B L — 'प्राचीन भारतीय गणित' विज्ञान भारती, दिल्ली १९७१
12. Shah, A L — 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास–भाग ५ पा० वि० शोध-संस्थान, वाराणसी १९६९।
13. Srinivas, C P. Iengar — The History of Ancient Indian Mathematics National World Press Calcutta 1967.
14. — — अंग सुत्ताणि—भाग १, जैन विश्व भारती, लाडनूं १९७५
15. — — ठाणं (स्थानांग सूत्त) टीक, जैन विश्व भारती, लाडनूं १९८०
16. — — तिलोयपण्णत्ति—सटीक जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर १९४४
17. — — 'गणितसार संग्रह(हिन्दी संस्करण) जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर १९६२

१. ठाणं ४, सूत्र, ५०५, पृ० ४३८।

जैनधर्म में नैतिक और धार्मिक कर्तव्यता का स्वरूप

डा० सागरमल जैन

मॉरल आब्लीगेशन् के लिए हिन्दी भाषा में नैतिक प्रभुशक्ति, नैतिक बाध्यता, नैतिक दायित्व या नैतिक कर्तव्यता शब्दों का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः मॉरल आब्लीगेशन् दायित्व-बोध या कर्तव्य-बोध की उस स्थिति का सूचक है जहाँ व्यक्ति यह अनुभव करता है कि "यह मुझे करना चाहिए।" पाश्चात्य नीतिवेत्ताओं के अनुसार नैतिक कर्तव्यता का स्वरूप "यह करना चाहिए" इस प्रकार का है, न कि "यह करना होगा"। पाश्चात्य परम्परा में नैतिक कर्तव्यता का "चाहिए" (ought) के रूप में और धार्मिक कर्तव्यता को "होगा" (must) के रूप में देखा गया; क्योंकि धर्म को ईश्वरीय आदेश माना गया। जबकि भारतीय परम्परा में और विशेष रूप से जैन परम्परा में नैतिक और धार्मिक दोनों ही प्रकार को कर्तव्यता की प्रकृति एक सोपाधिक कथन के रूप में है, उसमें चाहिए का तत्त्व तो है, किन्तु, उसके साथ एक बाध्यता का भाव भी है। उसमें "चाहिए" (ought) और "होगा" (must) का सुन्दर समन्वय है। उसका स्वरूप इस प्रकार का है—यदि तुम ऐसा चाहते हो तो तुम्हें ऐसा करना होगा अर्थात् यदि तुम मुक्ति चाहते हो तो तुम्हें सम्यक् चारित्र का पालन करना होगा। उसमें बाध्यता में भी स्वतन्त्रता निहित है। इसका कारण यह है कि भारतीय परम्परा में और विशेष रूप से जैन और बौद्ध परम्पराओं में धर्म और नीति के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींची गई और न उन्हें एक दूसरे से पृथक् माना गया है। पुनः जैन दर्शन के अनुसार नैतिक एवं धार्मिक दायित्व या कर्तव्यता की इस बाध्यता का उद्गम आत्मा द्वारा कर्म सिद्धान्त की स्वीकृति में रहा हुआ है। यद्यपि कर्म सिद्धान्त एक वस्तुनिष्ठ नियम है, किन्तु, उसका नियामक-तत्त्व स्वयं आत्मा ही है। कर्म नियम पर आत्मा की यह नियामकता उसकी आचार की पवित्रता के साथ बढ़ती है।

जैन परम्परा में तीन प्रकार की आत्माएँ मानी गयी हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। इसमें बहिरात्मा इन्द्रियमय आत्मा है और अन्तरात्मा विवेकमय आत्मा है। नैतिक और धार्मिक दोनों ही प्रकार के दायित्वों की कर्तव्यता का उद्भव विवेकमय आत्मा से होता है, जो इन्द्रियमय आत्मा को वैसा करने के लिए बाध्य करती है। जैन दर्शन और जे० एस० मिल इस सन्दर्भ में एकमत हैं कि सम्पूर्ण नैतिकता और धार्मिकता दायित्व की चेतना का आधार कर्तव्य के विधान से उत्पन्न विवेकमय अन्तरात्मा की तीव्र वेदना ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ मिल का आन्तरिक आदेश मात्र भावनामूलक है वहाँ जैन दर्शन का आन्तरिक आदेश भावना और विवेक के समन्वय में उद्भूत होता है। वह कहता है कि यदि, तुम्हें अमुक आदर्श को प्राप्त करना है तो अमुक प्रकार से आचरण करना ही होगा। सम्यक् चारित्र का विकास सम्यक्दर्शन (भावना) और सम्यक्ज्ञान (विवेक) के आधार पर होता है। सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान नैतिक और धार्मिक कर्तव्यता के लिए एक आबन्ध प्रस्तुत करते हैं, परिणामतः आत्मा सम्यक् चारित्र (सदाचार) की दिशा में प्रवृत्त होता है।

चूंकि जैन दर्शन किसी ऐसे ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता है, जो "कर्म के नियम" का नियामक या अधिशास्ता है, अतः उसमें नैतिक और धार्मिक बाध्यता बाह्य आदेश नहीं अपितु, कर्म नियम की द्रष्टा अन्तरात्मा का ही आदेश है। उसमें बाध्यता तो है, किन्तु, यह बाध्यता निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है।

जैन दर्शन के अनुसार वस्तु स्वभाव को ही धर्म कहा जाता है और यदि वस्तु स्वभाव ही धर्म है, तो धार्मिक कर्तव्यों की बाध्यता का उद्भव बाहर से नहीं होकर अन्दर से ही होगा। जैन दर्शन में आत्मा का स्वभाव "समता" बताया गया है। अतः "समभाव की साधना" की कर्तव्यता का आधार बाहरी न होकर आन्तरिक है। इसी प्रकार प्राणीय प्रकृति का स्वाभाविक गुण जिजीविषा है और अहिंसा की नैतिक कर्तव्यता इसी जिजीविषा के कारण हैं। कहा गया है—"सभी जीना चाहते हैं कोई मरना नहीं चाहता"। अतः प्राण-वध का निषेध किया गया है। इस प्रकार जैन धर्म में चाहे समभाव की साधना की कर्तव्यता का प्रश्न हो या अहिंसा के व्रत के पालन का प्रश्न हो, उनकी बाध्यता अन्तरात्मा से ही आती है, वह किसी बाह्यतत्त्व पर आधारित नहीं है।

जैन धर्म में नैतिक और धार्मिक कर्तव्यों की अभिन्नता

सामान्यतया कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों ने धर्म और नीति के बीच एक विभाजक रेखा खींची है और इसी आधार पर वे नैतिक और धार्मिक कर्तव्यों में भी अन्तर करते हैं। वे नैतिक कर्तव्यता को "करना चाहिए" के रूप में और धार्मिक कर्तव्यता को "करना होगा" के रूप में लेते हैं। किन्तु, सामान्य रूप से भारतीय दार्शनिक और विशेष रूप से जैन दार्शनिक नैतिक एवं धार्मिक कर्तव्यता को अभिन्न रूप से ही ग्रहण करते हैं। वे धर्म और नीति के बीच कोई सीमा रेखा नहीं खींचते हैं। भारत में धर्म शब्द का व्यवहार अधिकांश रूप में कर्तव्य एवं सदाचार के अर्थ में ही हुआ है और इस प्रकार वह नीतिशास्त्र का प्रत्यय बन जाता है। भारत में नीतिशास्त्र के लिए धर्मशास्त्र शब्द का ही प्रयोग हुआ है। धर्म और नीति में यह विभाजन मुख्यतया मानवीय चेतना के भावात्मक और संकल्पात्मक पक्षों के आधार पर किया गया है। पाश्चात्य विचारक यह मानते हैं कि धर्म का आधार विश्वास या श्रद्धा है, जबकि नैतिकता का आधार संकल्प है। धर्म का सम्बन्ध हमारे भावनात्मक पक्ष से है, जबकि नैतिकता का सम्बन्ध हमारे संकल्पात्मक पक्ष से है। सेम्युअल एलेक्जेण्डर के शब्दों में धार्मिक होना इससे अधिक कर्तव्य नहीं है, जैसे कि भूखा होना कोई कर्तव्य है। जिस प्रकार भूख एक मात्र सांवेगिक अवस्था है, उसी प्रकार धर्म भी एक सांवेगिक अवस्था है। विलियम जेम्स का कहना है कि "यदि हमें धर्म का कोई निश्चित अर्थ लेना है तो हमें उसे भावनाओं के अतिरेक और उत्साहपूर्ण आलिंगन के अर्थ में लेना चाहिए। जहाँ तथाकथित नैतिकता केवल सिर झुका देती है और राह छोड़ देती है।" वस्तुतः भारत में धर्म और नैतिकता दो अलग-अलग तथ्य नहीं रहे हैं। मानवीय चेतना के भावनात्मक और संकल्पात्मक पक्षों को चाहे एक दूसरे से पृथक् देखा जा सकता हो, किन्तु, उन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। भावना, विवेक और संकल्प, मानवीय चेतना के तीन पक्ष हैं। चूंकि मनुष्य एक समग्रता है, अतः ये तीनों पक्ष एक दूसरे के साथ मिले हुए हैं। इसीलिए मैथ्यू आरनॉल्ड को यह कहना पड़ा था कि भावना-युक्त नैतिकता ही धर्म है। पश्चिम में यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण रूप से चर्चित रहा है कि धार्मिक और नैतिक कर्तव्यों में कौन प्राथमिक है? डेकार्ट, लॉक प्रभृति अनेक विचारक

नैतिक नियमों को ईश्वरीय आदेश से प्रतिफलित मानते हैं और इस अर्थ में वे धर्म को नैतिकता से प्राथमिक मानते हैं जबकि कॉण्ट, मार्टिन्यू आदि नैतिकता पर धर्म को अधिष्ठित करते हैं। कॉण्ट के अनुसार धर्म, नैतिकता पर आधारित है और ईश्वर का अस्तित्व नैतिकता के अस्तित्व के कारण है। जहाँ तक भारतीय चिन्तन और विशेष रूप से जैन परम्परा का प्रश्न है वे धर्म और नैतिकता को एक दूसरे से पृथक् नहीं करते हैं। आचारो प्रथमोधर्मः के रूप में नीति की प्रतिष्ठा धर्म के साथ जुड़ी हुई है। जैन दर्शन की भाषा में कहें तो दोनों अन्योन्याश्रित हैं। सम्यग्चारित्र का आधार सम्यग्दर्शन है और सम्यग्चारित्र के अभाव में सम्यग्दर्शन भी नहीं होता है। सदाचरण के बिना सम्यक् श्रद्धा और सम्यक् श्रद्धा के बिना सदाचरण सम्भव नहीं है। धर्म न तो नैतिकताविहीन है और न तो नैतिकता धर्मविहीन। ब्रैडले के शब्दों में यह असम्भव है कि एक व्यक्ति धार्मिक होते हुए अनैतिक आचरण करे। ऐसी स्थिति में या तो वह धर्म का ढोंग कर रहा है या उसका धर्म ही मिथ्या है। कुछ लोग धर्म और नैतिकता का अन्तर इस आधार पर करते हैं कि नैतिकता का क्षेत्र शुभाशुभ का क्षेत्र है। जहाँ तक शुभ और अशुभ का संघर्ष है वहाँ तक नैतिकता का क्षेत्र है। धर्म के क्षेत्र में शुभ और अशुभ का द्वन्द्व समाप्त हो जाता है। क्योंकि धार्मिक तभी हुआ जा सकता है, जबकि व्यक्ति अशुभ से पूर्णतया विरत हो जाये और जब अशुभ नहीं रहता तो शुभ भी नहीं रहता। जैन दार्शनिकों में आचार्य कुन्दकुन्द ने पुण्य (शुभ) और पाप (अशुभ) दोनों से ऊपर उठने का निर्देश दिया था। यद्यपि, हमें यह स्मरण रखना होगा कि अशुभ से निवर्तन के लिए प्रथम शुभ की साधना आवश्यक है। धर्म का क्षेत्र पुण्य-पाप के अतिक्रमण का क्षेत्र है; अतः वह नैतिकता से ऊपर है, फिर भी हमें यह मानना होगा कि धार्मिक होने के लिए जिन कर्तव्यों का विधान किया गया है वे स्वरूपतः नैतिक ही हैं। जैन धर्म के पाँच व्रतों, बौद्ध धर्म के पंचशीलों और योग दर्शन के पंचयमों का सीमा-क्षेत्र नैतिकता का सीमा-क्षेत्र ही है। भारतीय परम्परा में धार्मिक होने के लिए नैतिक होना आवश्यक है। इस प्रकार आचरण की दृष्टि से नैतिक-कर्तव्यता प्राथमिक है और धार्मिक-कर्तव्यता परवर्ती है। यद्यपि, नैतिक और धार्मिक दोनों ही प्रकार के कर्तव्यों की बाध्यता का उद्भव कर्म के नियम से होता है, अतः इन कर्तव्यों की बाध्यता का उद्भव मूलतः धार्मिक ही है।

कछ पाश्चात्य विचारकों की यह मान्यता है कि बिना धार्मिक कर्तव्यों का पालन किये भी व्यक्ति सदाचारी हो सकता है। सदाचारी जीवन के लिए धार्मिकता अनिवार्य तत्त्व नहीं है। आज साम्यवादी देशों में इसी धर्मविहीन नैतिकता का पाठ पढ़ाया जाता है। यदि धर्म का अर्थ किसी वैयक्तिक ईश्वर के प्रति आस्था या पूजा के क्रिया-काण्डों तक सीमित है, तब तो यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति धार्मिक हुए बिना भी नैतिक हो सकता है। किन्तु, जब धार्मिकता का अर्थ ही सदा-चारिता हो तो फिर यह सम्भव नहीं है कि बिना सदाचारी हुए कोई व्यक्ति धार्मिक हो जाये। जैन दर्शन हमें धर्म की जो व्याख्या देता है वह न तो किसी वैयक्तिक ईश्वर के प्रति आस्था की बात कहता है और न धर्म को कुछ क्रिया-काण्डों तक सीमित रखता है। उसने धर्म की परिभाषा करते हुए चार दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं—

(१) वस्तु का स्वभाव धर्म है;

(२) क्षमा आदि सद्गुणों का आचरण धर्म है;

(३) सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही धर्म है; और

(४) जीवों की रक्षा करना ही धर्म है।

यदि हम इन परिभाषाओं के सन्दर्भ को देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि धार्मिक होना और नैतिक होना यह दो अलग-अलग तथ्य नहीं हैं। धर्म नैतिकता की आधारभूमि है और नैतिकता धर्म की बाह्य अभिव्यक्ति। धर्म नैतिकता की आत्मा है और नैतिकता धर्म का शरीर। अतः जैन विचारक धार्मिक और नैतिक कर्तव्यता के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींचते हैं। उनके अनुसार आन्तरिक निष्ठापूर्वक सदाचार का पालन करना अर्थात् नैतिक दायित्वों या कर्तव्यों का पालन करना ही धार्मिक होना है।

जैन धर्म में नैतिक और धार्मिक कर्तव्यता का व्यावहारिक पक्ष

जैन धर्म में हम नैतिक और धार्मिक कर्तव्यता में कोई विभाजक रेखा खींचना चाहें तो उसे सामाजिक कर्तव्यता और वैयक्तिक कर्तव्यता के आधार पर ही खींचा जा सकता है। हमारे कर्तव्य और दायित्व दो प्रकार के होते हैं, एक जो दूसरों के प्रति है, और दूसरे जो अपने प्रति है। जो दूसरों अर्थात् समाज के प्रति हमारे दायित्व हैं वे नैतिकता की परिसीमा में आते हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के व्रतों का बाह्य या व्यवहार पक्ष है। उसका पालन नैतिक कर्तव्यता है, जबकि समभाव, द्रष्टाभाव या साक्षीभाव जिसे जैन पारिभाषिक शब्दावली में 'सामायिक' कहा गया है, की साधना धार्मिक कर्तव्यता है। जैन धर्म में आचार के और पूजा-उपासना की जो दूसरी प्रक्रियाएँ हैं उनका महत्त्व या मूल्य इसी बात में है कि समभाव जो हमारा सहज स्वभाव की उपलब्धि में किस सीमा तक सहायक है। यदि, हमें जैन धर्म में नैतिक और धार्मिक कर्तव्यता को अति संक्षेप में कहना हो तो उन्हें क्रमशः "अहिंसा" और 'समता" के रूप में कहा जा सकता है, उसमें अहिंसा सामाजिक या नैतिक कर्तव्यता की सूचक है और समता (सामायिक) धार्मिक कर्तव्यता की सूचक है।

निदेशक, पा० वि० शोध संस्थान
वाराणसी–५

अप्रकाशित प्राकृत शतकत्रय—एक परिचय

डॉ० प्रेम सुमन जैन

श्री ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, उज्जैन के ग्रन्थ भण्डार का जुलाई, १९८४ में अवलोकन करते समय प्राकृत भाषा में रचित शतकत्रय की एक पाण्डुलिपि प्राप्त हुई। यह पाण्डुलिपि वि० सं० १९८१ में आश्विन सुदी चतुर्थी, बुधवार को लिखी गयी है। इसमें रचनाकार और रचनाकाल का उल्लेख नहीं है। यह एक संग्रह ग्रन्थ प्रतीत होता है। इसलिए इसमें लेखक या संग्रहकर्ता का नामोल्लेख नहीं है। प्राकृत साहित्य के इतिहास में भी ऐसे किसी लेखक का नाम नहीं मिलता, जिसने शतकत्रय की रचना की हो।

इस पाण्डुलिपि में कुल ३२ पन्ने अर्थात् ६४ पृष्ठ हैं। बड़े अक्षरों में दूर-दूर लिखावट है। एक पृष्ठ में प्राकृत की कुल ७ पंक्तियाँ हैं। लगभग ९ शब्द एक पंक्ति में हैं। पन्ने लगभग ११ इंच लम्बे एवं ८ इंच चौड़े हैं।

इस प्राकृत शतकत्रय में प्रथम इन्द्रियशतक, द्वितीय वैराग्यशतक एवं तृतीय आदिनाथशतक का वर्णन है। शतकत्रय से भर्तृहरि के शतकत्रय का स्मरण होता है, जिसमें नीति, वैराग्य और शृंगार शतक सम्मिलित हैं। उनसे इस प्राकृत शतक का कोई सम्बन्ध नहीं है। केवल नाम-साम्य है। जैन आचार्यों में खरतरगच्छ में जिनभद्रसूरि के शिष्य देहड़सुपुत्र श्री धनदराज संघपाटी ने सं० १४९० में मंडपदुर्ग में एक शतकत्रय की रचना की थी।[1] किन्तु यह शतकत्रय संस्कृत भाषा में है। इसमें भर्तृहरि के अनुसरण पर नीति, वैराग्य एवं शृंगार शतक की ही रचना की गयी है।[2]

प्राकृत शतकत्रय की एक साथ कोई दूसरी पाण्डुलिपि की सूचना अभी तक प्राप्त नहीं है। अतः इसी उज्जैन भण्डार की पाण्डुलिपि के आधार पर इन तीनों शतकों का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

१—इंद्रिय शतक

'इन्द्रिय शतक' नामक पाण्डुलिपियाँ कई जैन भण्डारों में उपलब्ध हैं।[3] निम्नांकित ग्रन्थ भण्डारों की प्रतियाँ प्राकृत भाषा की हो सकती हैं—

---

१. वेलेणकर, एच० डी०; जिनरत्नकोश, पृ० ३७० ।

२. (क) काव्यमाला के गुच्छ १३ नं० ६९ में निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित ।

(ख) नाहटा, अगरचन्द; 'जैन शतक साहित्य' नामक लेख गुरु गोपालदास बरैया स्मृति ग्रन्थ, सागर, १९६७, पृ० ५२४-५३८ ।

३. जिनरत्नकोश, पृ० ४० ।

(१) भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, कलेक्शन नं० पांचवा (१८८४-८७) ग्रन्थ नं० ११७० ।

(२) लीबड़ी जैन ग्रन्थ भण्डार, पोथी नं० ५७८ ।

(३) जैनानन्द ग्रन्थ भण्डार, गोपीपुरा, सूरत, पोथी नं० १६४८ ।

भीमसी मानेक, बम्बई द्वारा 'प्रकरणरत्नाकर' के भाग चार में एक 'इन्द्रिय पराजय शतक' प्रकाशित हुआ है। यह पुस्तक देखने को नहीं मिली । हो सकता है इसका और प्राकृत इंद्रियशतक का कोई सम्बन्ध हो। रचनाकार के नाम का उल्लेख कहीं नहीं है । इन्द्रियपराजय शतक पर सं० १६६४ में गुणविनय ने एक टीका भी लिखी है।[1]

प्राकृत इन्द्रियशतक का प्रारम्भ इस प्रकार होता है—

आदि अंश

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥
सो च व सूरो सो चेव पंडियो तं पसंसिमो निच्चं ।
इंदिय चोरेहि सया न लुहियं जस्स चरणधणं ॥ १ ॥
इंदिय चवला तुरगो दुग्गइ मग्गाणुधाविणो णिच्चं ।
भाविय भवस्स रूवो रुंभइ जिणवयणरिस्सीहिं ॥ २ ॥
इंदिय धुत्ताणमहो तिलंतुसमित्तंपि दिसु मा पसरो ।
जइ दिण्णो तो नोउं जत्थ खणो वरिस कोडि समो ॥ ३ ॥

अंतिम अंश

दुक्करामे एहि कयं जेहिं समत्थेहि जुवणच्छहि ।
भग्गाइंदियसण्णं धिइपायारं वि लग्गेहिं ॥ ९९ ॥
ते धण्णा ताणं णमो दासोऽहं ताण संजमधाराणं ।
अह अहच्छि पिरीओ जाण ण हियए खुडकंति ॥ १०० ॥
किं बहुणा जइ वच्छसि जीव तुमं सासयं सुहं अरूअं ।
ता पिअसु विसइविमुहो संवेगरसायणं णिच्चं ॥ १०१ ॥
॥ इति श्रीइंद्रियशतक समाप्तं ॥

इस इंद्रिय शतक में कुल १०१ प्राकृत गाथाएँ हैं । इन गाथाओं के ऊपर पुरानी हिन्दो में टिप्पण भी लिखे हुए हैं । इनमें से कुछ उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य हैं—

गाथा—१

सोइ सूरमा पुरुष सोइ पुरुष पंडित
ते हवइ प्रसंस्यज्यो नित्यं ।
जेह इंदियरूपिया चोर सदा
तेहने नथी लूटाव्या चरितरूप धनु ॥

---

१. वही, पृ० ४०, कान्तिविजय जी का निजी संग्रह, बड़ौदा ।

गाथा—२

इंदीरूप चवल तुरंगम दुर्गति मार्ग
नइ धावत उथइ सदा।
स्वभाविउ संसारस्वरूप रुंधइ
श्रीवीतरागना वचन मारगवोरीइ ॥

गाथा—३

इंदिय धूरत नइ अहो उत्तम तिलवाकू कसमात्र देसिमा।
पसरवा जउ दीयउ तउ लीघउ जहाँ एक क्षण वरसनी कोडि सरीखो दुखमय ॥

इस इन्द्रियविजयशतक में कामभोगों के दुष्परिणामों का वर्णन किया गया है। प्रसंगवश नारी को दुःखों की खान कहा गया है। जीवों को इतना मूढ़ और अज्ञानी कहा गया है कि वे विषय-भोगों के जाल में जानते हुए भी फँस जाते हैं। क्योंकि उन्हें अपने स्वरूप का पता नहीं है। जो स्वाभिमानी व्यक्ति मृत्यु के आने पर भी कभी दीन वचन नहीं बोलते हैं, वे भी नारी के प्रेमजाल में फँसकर उसकी चाटुकारिता करते हैं। यथा—

मरणे वि दीणवचणं माणधरा जे णरा ण जंपंति।
ते वि हु कुणंति लल्लिं बालाणं-नेह-गहिल्ला ॥ ६८ ॥

इतिहास का एक उदाहरण देते हुए कवि कहता है कि यादववंश के पुत्र, महान् आत्मा, जिनेन्द्र नेमिनाथ के भाई, महाव्रतधारी, चरमशरीरी रथनेमि भी राजमति से विषयों की आकांक्षा करने लगते हैं। जब उस जैसा मेरुपर्वत सदृश निश्चल यति भी कामरूपी पवन से चंचल हो उठा तब पके हुए पत्तों की तरह सामान्य अन्य जीवों की गति क्या कही जाय—

जउनंदणो महप्पा जिणभाय वयधरो चरमदेहो।
रहणेमि रायमई, रायमई कासिही विसया ॥ ७० ॥
मयणपवणेण जइं तारिसो वि सुरसेलनिच्चला चलिया।
ता पक्कपत्तसत्ता णइय सत्ताण का वत्ता ॥ ७१ ॥

इसीलिए विषय-कामभोगों से मन को विरक्त कर जिनभाव में अभ्यास करना चाहिये। ऐसे संयमधारी योगियों का दास बनना भी श्रेयस्कर है।

२—वैराग्य शतक

नीति और अध्यात्म विषयक प्राकृत रचनाओं में वैराग्य शतक नामक रचना बहुत प्रचलित रही है। यद्यपि इसका कर्ता अभी तक अज्ञात है। इसका दूसरा नाम 'भव-वैराग्यशतक' भी प्राप्त होता है। यह रचना संस्कृतवृति एवं गुजराती अनुवाद सहित ३-४ बार प्रकाशित हो चुकी है।[1]

१. (क) कचरभाई गोपालदास, अहमदाबाद, सन् १८९५।
(ख) हीरालाल हंसराज जामनगर, १९१४।
(ग) देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रन्थमाला, १९४१।
(घ) स्याद्वाद संस्कृत पाठशाला, खंभात, १९४८।

फिर भी इसके प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित करने की आवश्यकता है। उसके लिये विभिन्न पाण्डुलिपियों का मिलान करना होगा। उज्जैन के सरस्वती भवन से प्राप्त पाण्डुलिपि के नमूने के रूप में इस रचना के आदि एवं अन्त की कुछ गाथाएँ यहाँ प्रस्तुत हैं।

आदि अंश

संसारंमि असारे नत्थि सुहं वाहि वेयंणा पवरे।
जाणंतो इह जीवो ण कुणई जिण देसियं धम्मं ॥ १ ॥
अज्जं कल्लं पुरपुण्णं जीवा चिंतंति अत्थि संपत्ते।
अंजलि-गहियम्मि तोयं गलंतिमाउं ण पिच्छंति ॥ २ ॥
जं कल्लेण कयव्वं तं अज्जं चिय करेह तुरमाणं।
बहु-विग्धोहमुहुत्तो मा अवरण्हं प्पडिवखेहि ॥ ३ ॥

अंतिम अंश

चउगइणंत दुहाणल पलित्त भवकाणणे महाभीमे।
सेवसु रे जीव! तुमं जिणवयणं अमियकुंडसम्मं ॥ १०४ ॥
विसमे भवमरूदेसे अणंतदुह गिम्हताव संतत्ते।
जिणधम्मं कप्परूक्खं सरिस तुमं जीव सिवसुहयं ॥ १०५ ॥
किं बहुणा तहधम्मो जइअव्व जह भवोदहिं घोरं।
लहु तरिउमणंत सुहं लहइ जियउ सासयं ठाणं ॥ १०६ ॥

इति वैराग्यशतकं सम्पूर्णम् ॥ द्वितीयम् ॥

इस वैराग्यशतक में संसार से वैराग्य उत्पन्न करने के लिये शरीर, यौवन और धन की अस्थिरता का वर्णन किया गया है। संसार की क्षणभंगुरता के दृश्य उपस्थित किये गये हैं। संसार के सभी सुखों को कमलपत्ते पर पड़ी हुई जल की बूँद की तरह चंचल कहा गया है। इस शतक में काव्यात्मक बिम्बों का अधिक प्रयोग किया गया है। व्यक्ति के अकेलेपन का चित्रण करते हुए कहा गया है कि माता-पिता, भाई आदि परिवार के लोग मृत्यु से प्राणी को उसी प्रकार नहीं बचा सकते हैं जिस प्रकार सिंह के द्वारा पकड़ लिये जाने पर मृग को कोई नहीं बचा सकता। यथा—

जहेह सीहो व मियं गहाय मच्चू नरं णेइ हु अंतकाले।
ण तस्स माया व पिया न भाया कालंमि तंमि सहरा भवंति ॥

इसलिये चिन्तामणि के समान धर्मरत्न को प्राप्त कर संसारबन्धन से छूटने का प्रयत्न करना चाहिये[1]।

आदिनाथ शतक

'आदिनाथ देशनाशतक' नामक प्राकृत रचना का उल्लेख मिलता है[2]। किन्तु आदिनाथ-शतक नामक किसी अन्य रचना अथवा पाण्डुलिपि की जानकारी नहीं है। उज्जैन के ग्रन्थ भण्डार से

१. शास्त्री, नेमिचन्द्र; प्राकृत भाषा एवं साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३८७।
२. जैन ग्रन्थावलि, पृ० २०८।

प्राप्त प्राकृत का यह आदिनाथशतक नया हो सकता है। इस आदिनाथशतक की प्राकृत गाथाओं के ऊपर हिन्दी टिप्पण भी नहीं दिये गये हैं। इसका नाम आदिनाथशतक क्यों दिया गया है, यह पाण्डुलिपि को पढ़ने से ज्ञात नहीं होता। क्योंकि इसमें आदिनाथ के जीवन की कोई घटना नहीं है। जैन धर्म का प्रवर्तक होने के नाते आदिनाथ का नाम शायद इसलिये दिया गया है कि इस शतक में जो कहा गया है वह भी जैन-धर्म का मूल उपदेश ही है।

इस शतक में मनुष्य जन्म की दुर्लभता, कर्मों की प्रबलता एवं संसार की विचित्रता का वर्णन है। अशरण भावना को जानकर शीघ्र धर्म करने की बात इसमें कही गयी है—

असरण मरंति इंदा-बलदेव-वासुदेव-चक्कहरा।
ता एअं नाऊणं करेहि धम्मु तुरियं ॥ २१ ॥

मनुष्य जन्म प्राप्त कर लेने पर भी धर्मबोधि का लाभ सभी को नहीं हो पाता है। कवि कहता है कि ७२ कलाओं में निपुण व्यक्ति भी स्वर्ण और रत्न को तो कसौटी में कसकर पहचान लेगा, किन्तु धर्म को कसौटी में कसने में वह व्यक्ति भी चूक जाता है। यथा—

वावत्तरिकला कुसला कसणाए कणयरयणाए।
चुक्कंति धम्मकसणा तेसि वि धम्मुत्तिदुन्नेउ ॥ ७७ ॥

कवि की मान्यता है कि धर्म से ही व्यक्ति, ९ निधियों का स्वामी, १४ रत्नों का अधिपति एवं भारत के छह खण्डों का स्वामी चक्रवर्ती राजा होता है। सामान्य उपलब्धियों का कहना ही क्या? इस ग्रन्थ की कुछ गाथाओं के परिचय के लिये आदि एवं अन्त की गाथाएँ यहाँ दी जा रही हैं।

अथ श्री आदिनाथ जो शतकमारंभः

आदि अंश

संसारे नत्थि सुहं जम्म-जरामरणरोग-सोगेहिं।
तह बिहु मिच्छंध जीवा ण कुणंति जिणंदवरधम्मं ॥ १ ॥
माइं जाल सरिसं विज्जाचमक्कारसच्छहं सव्वं।
सामण्णं खण-दिट्ठं खणणट्ठं कापडिवच्छो ॥ २ ॥
को कस्स इच्छ सयणे को व परो भवसमुद्द-भवणम्मि।
मच्छुव्व भमंति जीआ मिलंति पुण जंपि दूरं ॥ ३ ॥

अंतिम अंश

आरोगरूव-धण-सयण-संपया दीहमाउसोहग्ग।
सग्गापवग्गगमं णं होइ विण्णेण धम्मेणं ॥ ८३ ॥
जत्थ न जरा ण मच्चू वाहि ण न च सव्वदुक्खाई।
सय सुक्खंमि वि जीवो वसइ तहिं सव्व-कालंमि ॥ ८४ ॥
अरयव्व तुंबलग्गाणो भमंति संसार-कंतारे सम्मतजीवा।
णरय तिरिआ नहुंति कयावि सुहमाणुसदेवेहि उपज्जिता सिवं जंति ॥ ८५ ॥

॥ इति शतक त्रिकं ॥

इति श्री आदिनाथ स्वामी शतक सम्पूर्णम् । शुभमिति आश्वन शुक्ल चतुर्थी बुधवासरेषु विक्रमीयाब्द १९८१ ।

इस तरह अज्ञात कवि द्वारा प्राकृत में रचित यह शतकत्रय नीति, धर्म, एवं वैराग्य विषय की एक महत्वपूर्ण रचना है। विभिन्न पाण्डुलिपियों के अध्ययन से इसका प्रामाणिक संस्करण तैयार करने की जरूरत है। हिन्दी अनुवाद के साथ यदि यह प्रकाशित किया जाय तो स्वाध्याय के लिये यह उपयोगी ग्रन्थ होगा। भर्तृहरि के शतकत्रय की भाँति विद्वत्-जगत् इस प्राकृत शतकत्रय से भी परिचित हो सकेंगे[1] ।

अध्यक्ष, जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग,
सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर ।
—२१, सुन्दरवास
उदयपुर (राज०)

१. इस शतकत्रय की पाण्डुलिपि की प्राप्ति हेतु पं० दयाचन्द्र जी शास्त्री, व्यवस्थापक, ऐ० पन्नालाल सरस्वती भवन, उज्जैन के प्रति आभार ।

★ इस लेख में उल्लिखित इन्द्रिय (पराजय) शतक और वैराग्यशतक प्रकाशित है और उनकी आदि अन्त की गाथाएँ समान हैं ।—सम्पादक

पाण्डव पुराण में राजनैतिक स्थिति

कु० रीता बिश्नोई

"पाण्डव पुराण" आचार्य शुभचन्द्र भट्टारक द्वारा वि० सं० १६०८ में रचित जैन पुराण है। इस ग्रन्थ में कौरव-पाण्डवों की कथा का वर्णन जैन मान्यता के अनुसार किया गया है। जैन साहित्य में यह पुराण "जैन-महाभारत" के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि आचार्य शुभचन्द्र ने महाभारत की कथा को लेकर ही इस पुराण की रचना की है तथापि इसमें वैदिक महाभारत की कथा से पद-पद पर भेद दृष्टिगोचर होता है। महाभारत कथाविषयक ग्रन्थ होने के कारण इस पुराण में स्थान-स्थान पर राजनीति सम्बन्धी बातें स्पष्ट दिखलाई पड़ती हैं। पाण्डव पुराण में हमें राजतन्त्रात्मक शासन प्रणाली के दर्शन होते हैं। पाण्डव पुराण में राजनीति सम्बन्धी जिन बातों की जानकारी मिलती है वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

राज्य

पाण्डव पुराण के अध्ययन से राज्य की उत्पत्ति के जिस सिद्धान्त को सर्वाधिक बल मिलता है वह है सामाजिक समझौता सिद्धान्त। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य दैवीय न होकर एक मानवीय संस्था है जिसका निर्माण प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले व्यक्तियों द्वारा पारस्परिक समझौते के आधार पर किया गया है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक अत्यन्त प्राचीन काल से एक प्राकृतिक अवस्था के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, जिसके अन्तर्गत जीवन को व्यवस्थित रखने के लिये राजा या राज्य जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी। इस प्राकृतिक व्यवस्था के विषय में पर्याप्त मतभेद है। कुछ इसे पूर्व-सामाजिक तो कुछ पूर्व-राजनैतिक अवस्था मानते हैं। इस प्राकृतिक अवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति अपनी इच्छानुसार प्राकृतिक नियमों को आधार मानकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। प्राकृतिक अवस्था के स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद होते हुये भी यह सभी मानते हैं कि किसी न किसी कारण मनुष्य प्राकृतिक अवस्था को त्यागने को विवश हुये और समझौते द्वारा राजनैतिक समाज की स्थापना की[1]। पाण्डव पुराण के अनुसार इस अवस्था को त्यागने का कारण समयानुसार साधनों की कमी तथा प्रकृति में परिवर्तन होना[2] था। इन्हीं सङ्कटों को दूर करने के लिये समय-समय पर विशेष व्यक्तियों का जन्म हुआ। इन व्यक्तियों को 'कुलकर' कहा गया है[3]। इन्होंने हा, मा और धिक्कार ऐसे शब्दों का दण्ड रूप में प्रयोग करके लोगों की आपत्ति दूर की। राज्य की उत्पत्ति का मूल कुलकरों और इनके कार्यों को ही कहा जा सकता है।

राजा

राज्य में राजा का महत्त्व सर्वोपरि है। राजा के अभाव में राज्य की कल्पना नहीं की जा

१. राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त (पुखराज जैन) पृ० १००-१०१।
२. पाण्डव पुराण, २।१३९–१४२।
३. पाण्डव पुराण, २।१०७।

सकती है। मनु के अनुसार बिना राजा के इस लोक में भय से चारों ओर चल-विचल हो जाता है इस कारण सबकी रक्षा के लिए ईश्वर ने राजा को उत्पन्न किया[1]। कामन्दक के अनुसार जगत् की उत्पत्ति एवं वृद्धि का एकमात्र कारण राजा ही होता है। राजा प्रजा के नेत्रों को उसी प्रकार आनन्द देता है जिस प्रकार चन्द्रमा समुद्र को आह्लादित करता है[2]। महाभारत में राजा को समाज का रक्षक बतलाते हुए कहा गया है कि प्रजा के धर्माचरण का मूल एकमात्र राजा होता है। राजा के डर से ही मनुष्य-समाज में शान्ति बनी रहती है। राजा के अभाव में कोई वस्तु निरापद नहीं रह पाती। कृषि, वाणिज्य आदि राजा की सुव्यवस्था पर ही निर्भर होते हैं। राजा समाज का सञ्चालक होता है उसके अभाव में मनुष्य का जीवन दुःसाध्य हो जाता है[3]। पाण्डव पुराण में राजा के महत्त्व को बतलाते हुये कहा गया है कि जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा होती है। यदि राजा धर्माचरण करने वाला होता है तो प्रजा भी धर्म में स्थिर रहती है और यदि राजा पापी होता है तो प्रजा भी पापी हो जाती है और यदि राजा समानवृत्ति का होता है तो प्रजा भी वैसी ही हो जाती है[4]। इससे स्पष्ट है कि राजा के आचार-विचार तथा गुण-दोषों का प्रजा पर सीधा प्रभाव पड़ता है।

जैन आगमों में सापेक्ष और निरपेक्ष दो प्रकार के राजाओं का उल्लेख हुआ है। सापेक्ष राजा अपने जीवन काल में ही पुत्र को राज्यभार सौंप देते थे जिससे गृह-युद्ध की सम्भावना न रहे। निरपेक्ष राजा अपने जीते जी राज्य का उत्तराधिकारी किसी को नहीं बनाते थे। पाण्डव पुराण में प्रथम प्रकार के साक्षेप राजाओं की स्थिति दृष्टिगोचर होती है—आदिप्रभु द्वारा बाहुबली कुमारों को पोदनपुर का राज्य तथा अन्य निन्यानबे पुत्रों को भिन्न-भिन्न देश का राज्य देना[5], राजा सोमप्रभ द्वारा अपने पुत्रों में समस्त राज्य विभक्त करना[6] आदि।

पाण्डव पुराण में राजा के निर्वाचन का आधार प्रमुख रूप से पितृ या वंशानुक्रम ही है।

राज्य व्यवस्था

राज्यशास्त्रों में राज्य को सप्ताङ्ग माना गया है। महाभारत के अनुसार सप्तात्मक राज्य की रक्षा यत्नपूर्वक की जानी चाहिये[7]। कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र ये सात राज्य के अङ्ग होते हैं[8], जिन्हें प्रकृति कहा जाता है, इनके अभाव में राज्य की कल्पना नही की जा सकती। इनमें सभी का स्थान महत्त्वपूर्ण है। महाभारत में सभी का महत्त्व समान बताया गया है[9]।

---

१. मनुस्मृति, ७।३।
२. कामन्दक नीतिसार, १।९।
३. महाभारत शान्तिपर्व ६८ अध्याय।
४. पाण्डव पुराण, १७।२६०।
५. पाण्डव पुराण, २।२२५।
६. पाण्डव पुराण, ३।४।
७. महाभारत शान्तिपर्व, ६९।६४-६५।
८. कौटिल्य अर्थशास्त्र, ६।१।१।
९. महाभारत शान्तिपर्व, ६१।४०।

राज्य के जिन सात अङ्गों की बात मनु[१], कामन्दक[२], और कौटिल्य[३] आदि ने की है वे सभी पाण्डव पुराण में पाये जाते हैं। इनमें स्वामी अथवा राजा सर्वप्रमुख हैं।

अमात्य

भारतीय मनीषियों ने मन्त्रियों को बहुत महत्त्व दिया है। मन्त्रियों के सत्परामर्श पर ही राज्य का विकास, उन्नति एवं स्थायित्व निर्भर है। कौटिल्य ने अमात्य का महत्त्व बताते हुये लिखा है कि जिस प्रकार रथ एक पहिये से नहीं चल सकता उसी प्रकार राज्य को सुचारु रूप में चलाने के लिये राजा को भी सचिवरूपी दूसरे चक्र की आवश्यकता होती है[४]। शुक्रनीति में कहा गया है कि राजा चाहे समस्त विद्याओं में कितना ही दक्ष क्यों न हो? फिर भी उसे मन्त्रियों के सलाह के बिना किसी भी विषय पर विचार नहीं करना चाहिये[५]। इसी प्रकार मनुस्मृति[६], याज्ञवल्क्यस्मृति[७] रामायण[८], महाभारत[९] आदि ग्रन्थों में अमात्य पद का महत्त्व वर्णित है। पाण्डव पुराण में अमात्य को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अमात्य राजा को नीतिपूर्ण सलाह देते थे इसलिये इन्हें "युक्ति-विशारद"[१०] कहा गया है। मन्त्री प्रायः राजा को प्रत्येक कार्य में सलाह देते थे। राजा अकम्पन ने पुत्री सुलोचना के लिये योग्य वर की खोज के लिये मन्त्रियों से सलाह की तथा सिद्धार्थ आदि सभी मन्त्रियों की सलाह से स्वयंवर-विधि का आयोजन किया।[११] इसी प्रकार राजा द्रुपद ने[१२] तथा राजा ज्वलनवटी ने[१३] अपनी-अपनी पुत्री के विवाह सम्बन्ध में मन्त्रियों से सलाह ली। मन्त्रीगण अनेक युक्तियों से राजा की रक्षा भी करते थे। किसी विद्वान् का अमोघजिह्वा नामक आदेश देने पर कि आज से सातवें दिन पोदनपुराधीश के मस्तक पर व्रजपात होगा, चिन्तातुर राजा ने सभी मन्त्रियों से विचार-विमर्श किया तथा युक्ति-निपुण सब मन्त्रियों ने सलाह करके राजा के पुतले को सिंहासन पर स्थापित करके राजा की रक्षा की थी[१४]।

युद्ध-क्षेत्र में भी मन्त्री राजा के साथ होते थे। जरासन्ध के सेनापति "हिरण्यनाभ" के

---

१. मनुस्मृति, ९।२९४।
२. नीतिसार, ४.१२।
३. अर्थशास्त्र, ६.१.१।
४. अर्थशास्त्र, १।७।१५।
५. शुक्रनीति, २.२।
६. मनुस्मृति, ७.५४।
७. याज्ञवल्क्य स्मृति, १.३१०।
८. रामायण अयोध्याकाण्ड, १९७.१८।
९. महाभारत सभापर्व, ५.२८।
१०. पाण्डव पुराण, ४।१३१।
११. पाण्डव पुराण, ३।३२-४०।
१२. पाण्डव पुराण, १५।५०-५१।
१३. पाण्डव पुराण, ४।१३।
१४. पाण्डव पुराण, ४।१३१-१३३।

युद्ध में मारे जाने पर मन्त्रियों की सलाह से जरासन्ध राजा, मेचक राजा को सेनापति नियुक्त करता है[१]।

पुरोहित

राष्ट्र की रक्षा के लिये पुरोहित को नियुक्त करना भी आवश्यक माना गया है। कौटिल्य के अनुसार पुरोहित को शास्त्र-प्रतिपादित विद्याओं से युक्त, उन्नतशील षडङ्गवेत्ता, ज्योतिषशास्त्र, शकुनशास्त्र तथा दण्डनीतिशास्त्र में अत्यन्त निपुण और दैवी तथा मानुषी आपत्तियों के प्रतिकार में समर्थ होना चाहिये[२]। याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार पुरोहित को ज्योतिषशास्त्र का ज्ञाता, सब शास्त्रों में समृद्ध, अर्थशास्त्र में कुशल तथा शान्ति कर्म में निपुण होना चाहिये[३]। मनु के अनुसार भी पुरोहित को गृह्य कर्म तथा शान्त्यादि में निपुण होना चाहिये[४]।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि राष्ट्र में धर्म-प्रतिनिधि पुरोहित था। इस पद का महत्त्व वैदिक युग से ही रहा है। पुरोहित का अर्थ है— आगे स्थापित (पुर एवं दधति)[५]।

पाण्डव पुराण में पुरोहित को 'पुरोधः' कहा गया है। वैसे तो पुरोहित धार्मिक सत्कार्य करने के लिये नियुक्त होते थे लेकिन राजा दुर्योधन के यहाँ एक ऐसे पुरोहित का उल्लेख भी आया है जो धन के लालच में आकर पाण्डवों के निवास लाक्षागृह को जलाने को तैयार हो जाता है[६]।

राजा युधिष्ठिर का धर्मोपदेश करने वाले पुरोहित के रूप में राजा विराट के यहाँ एक वर्ष तक (गुप्त रूप से) रहने का वर्णन भी आया है[७]।

सेनापति

राज्य के सप्ताङ्गों में सेनापति का स्थान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। सेना की सफलता योग्य सेनापति के अधीन होती है। युद्ध भूमि में वह सम्पूर्ण सेना का सञ्चालन करता है। अर्थशास्त्र के अनुसार सेनापति को सेना के चारों अङ्गों के प्रत्येक कार्य को जानना चाहिये। प्रत्येक प्रकार के युद्ध में सभी प्रकार के शस्त्र-शास्त्र के सञ्चालन का परिज्ञान भी उसे होना चाहिये। हाथी-घोड़े पर चढ़ने और रथ सञ्चालन करने में अत्यन्त प्रवीण होना चाहिये। चतुरङ्गी सेना के प्रत्येक कार्य का उसे परिज्ञान होना चाहिये। युद्ध में उसका कार्य अपनी सेना पर पूर्ण नियन्त्रण रखने के साथ ही साथ शत्रु की सेना को नियन्त्रित करना है[८]। महाभारत में सेनापति में अनेक गुणों का होना आवश्यक

---

१. पाण्डव पुराण, १९।६६।
२. कौटिल्य अर्थशास्त्र, अधिकार, प्रकरण ४ अध्याय ४, पृ० २४।
३. याज्ञवल्क्यस्मृति, १.३.१३।
४. मनुस्मृति, ७।७८।
५. यास्क निरुक्त २.१२।
६. पाण्डव पुराण, १२।१३२-१३८।
७. पाण्डव पुराण, १७।२४४।
८. अर्थशास्त्र अधिकार २, प्रकरण ४९-५० अध्याय ३३, पृ० २३७।

माना गया है[१]। शुक्रनीति में भी[२] सेनापति के आवश्यक गुणों का वर्णन किया गया है। पाण्डव पुराण में सेनापति के मस्तक पर पट्ट बांधने का उल्लेख आया है। चक्रवर्ती जरासन्ध के द्वारा मधुराजा के मस्तक पर चर्मपट्ट बांधने[३], दुर्योधन द्वारा अश्वत्थामा के मस्तक पर सेनापति पट्ट बांधने[४] तथा किसी समय भरत चक्रवर्ती द्वारा जयकुमार के मस्तक पर वीरपट्ट बांधकर[५] सेनापति पद दिये जाने का वर्णन मिलता है। इससे स्पष्ट है कि सेनापति के पद पर अत्यधिक वीर, साहसी, गुणी एवं योग्य व्यक्ति नियुक्त किया जाता था।

दूत

दूत राज्य का अभिन्न अङ्ग है। प्राचीन समय से ही राजनीति में उसने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। महाभारत[६], मनुस्मृति[७] तथा हितोपदेश[८] में दूतों के गुणों का विशद वर्णन है। कौटिल्य ने दूत को राजा का गुप्त सलाहकार माना है। दूत प्रकाश में कार्य करता है जबकि गुप्तचर छिप कर। दूत शब्द का अर्थ है—सन्देशवाहक, जिससे स्पष्ट है कि किसी विशेष कार्य के सम्पादनार्थ ही दूत भेजे जाते थे। पाण्डव पुराण में दूत व्यवस्था का उल्लेख अधिक मिलता है। राजा अन्धकवृष्टि द्वारा पाण्डु व कुन्ती के विवाहार्थ व्यास राजा के पास दूत भेजने[९], द्रुपद राजा का द्रौपदी स्वयंवर के लिये निमन्त्रण पत्रिकायें देकर दूतों को भेजने[१०] चक्रवर्ती का यादवों के पास दूत भेजने[११] केशव का कर्ण के पास दूत भेजने[१२] आदि अनेक उदाहरण पाण्डव पुराण में मिलते हैं।

गुप्तचर

गुप्तचर राजा की आँखें हैं, इन्हीं के द्वारा वह राज्य की गतिविधियों को देखता रहता है। प्राचीन समय से ही गुप्तचरों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कौटिल्य ने कार्यभेद से गुप्तचरों के नौ विभाग किये हैं—कापाटिक, उदास्थित, गृहपतिक, वैदेहक, तापस, स्त्री, तीक्ष्ण, रसद एवं भिक्षु[१३]। मनुस्मृति[१४] याज्ञवल्क्यस्मृति[१५], एवं महाभारत[१६] में भी इनका महत्त्व प्रतिपादित है। पाण्डव

१. महाभारत उद्योग पर्व १५।१९-२५।
२. शुक्रनीति, २.४२२।
३. पाण्डव पुराण, २०।३०४।
४. पाण्डव पुराण, २०।३०६।
५. पाण्डव पुराण, ३।५९।
६. महाभारत, उद्योगपर्व, ३७।२७।
७. मनुस्मृति, ७।६३-६४।
८. हितोपदेश विग्रह, १९।
९. पाण्डव पुराण, ८।१७।
१०. पाण्डव पुराण, १५।५३।
११. पाण्डव पुराण, १९।३९।
१२. पाण्डव पुराण, १९।६१।
१३. अर्थशास्त्र, १।१०।
१४. मनुस्मृति, ७।६६।
१५. याज्ञवल्क्यस्मृति, १।३२७।
१६. महाभारत ६।३६।७।१३।

पुराण में जरासन्ध का द्वारिका में रह रहे पाण्डवों का गुप्त पुरुषों द्वारा खोज कराने का उल्लेख मिलता है[१]।

राष्ट्र-रक्षा

दुर्ग, प्राकार एवं परिखा

शत्रुओं के आक्रमण से नगर एवं राजा की रक्षा के लिये प्राकार एवं दुर्ग का निर्माण किया जाता था। नगर की सुरक्षा की दृष्टि से उसके चारों ओर एक ऊँची सुदृढ़ दीवार बनायी जाती थी जिसे प्राकार कहा जाता था। पाण्डव पुराण में अत्यधिक ऊँचे प्राकार बनाने का उल्लेख आया है। हस्तिनापुर नगर के प्राकार के शिखरों पर ताराओं का समूह जड़े हुए मोतियों के समान सुशोभित हो रहा था[२]। इस वर्णन से ही इस प्राकार की ऊँचाई का अनुमान लगाया जा सकता है। नगर की सुरक्षा के लिये उसके चारों ओर परिखा या खाई खोदी जाती थी। हस्तिनापुर नगर की खाई शेषनाग के द्वारा छोड़ी हुई विष पूर्ण, मणियुक्त और भय दिखाने वाली मानों काञ्चल ही प्रतीत होती थी[३]। एक अन्य स्थान पर चम्पापुरी नगर की खाई की तुलना पाताल की गहराई से की गयी है[४]। शत्रु के आक्रमण के समय नगर-द्वार को बन्द करने का वर्णन भी आया है[५]। पाण्डव पुराण में दुर्ग का उल्लेख कहीं नहीं आया है। पतञ्जलि के अनुसार दुर्ग बनाने के लिये ऐसी भूमि ढूंढी जाती थी, जिसमें परिखा बन सके[६]। क्योंकि पाण्डव पुराण में परिखा का वर्णन मिलता है इससे स्पष्ट है कि दुर्ग भी अवश्य होते होंगे। उनका वर्णन नहीं किया गया है।

सेना

किसी भी राज्य का आधार कोष एवं सेना माने गये हैं। राजा की शक्ति सैन्य बल पर ही प्रभावशाली बन पाती है। प्राचीन काल से ही राजशास्त्र-प्रणेताओं ने बल का महत्त्व स्वीकार किया है। कौटिल्य के अनुसार राजा को दो प्रकार के कोपों से भय रहता है पहला—आन्तरिक कोप, जो अमात्यों के कोप से उत्पन्न होता है, दूसरा बाह्य कोप, जो राजाओं के आक्रमण का है। इन दोनों कोपों से रक्षा सैन्य बल से ही हो सकती है। पाण्डव पुराण में चतुरङ्गिणी सेना (बल) का उल्लेख अनेक स्थानों पर है। चतुरङ्गबल के अन्तर्गत हस्ति-सेना, अश्व-सेना, रथ-सेना तथा पादाति सेना आती है। राजा श्रेणिक महावीर प्रभु के दर्शनार्थ वैभार पर्वत पर चतुरङ्ग सेना के साथ पहुँचते हैं[७]। इसी प्रकार राजा पाण्डु वन क्रीडा के लिये चतुरङ्ग सेना के साथ वन के लिये प्रस्थान करते हैं[८]। युद्ध क्षेत्र में तो शत्रु राजाओं से युद्ध करते समय चतुरङ्गिणी सेना का

१. पाण्डव पुराण, १९।२६।
२. पाण्डव पुराण, २।१८५।
३. पाण्डव पुराण, २।१८६।
४. पाण्डव पुराण, ७।२७०।
५. पाण्डव पुराण, २१।१३०।
६. पतञ्जलि कालीन भारत, पृ० ३८१।
७. पाण्डव पुराण, १।१०५।
८. पाण्डव पुराण, ९।२-६।

प्रयोग होता था लेकिन सुलोचना के स्वयंवर में जयकुमार के वरण करने पर अर्ककीर्ति कुमार तथा जयकुमार के बीच हुये युद्ध में चतुरङ्ग सेना का उल्लेख आया है[१]। इसी प्रकार द्रौपदी स्वयंवर के समय पाण्डव-कौरवों के बीच हुये युद्ध में चतुरङ्ग सेना का वर्णन आया है[२]। इससे स्पष्ट है कि राजा लोग हर समय युद्ध के लिये तैयार रहते थे तथा सेना हमेशा सुसज्जित एवं तत्पर रहती थी।

इन चतुरङ्ग सेना के अतिरिक्त पाण्डव पुराण में विद्याधर सेना[३] तथा अक्षौहिणी सेना[४] का उल्लेख भी आया है।

युद्ध-प्रणाली

पाण्डव पुराण में प्राप्त युद्ध सम्बन्धी वर्णन प्राचीन काल से चली आ रही धर्मयुद्ध की परम्परा की है। पाण्डव पुराण के युद्ध वर्णन से स्पष्ट है कि प्रायः रात्रि में युद्ध रोक दिया जाता था[५]। लेकिन बीसवें पर्व में एक स्थान पर कहा गया है कि योद्धागण रात्रि में और दिन में हमेशा लड़ते रहते थे और जब उन्हें निद्रा आती थी तब वे रणभूमि में ही इधर-उधर लुढ़कते थे और सो जाते थे फिर उठकर लड़ते थे और मरते थे[६]। युद्ध के समय उचित-अनुचित, मान-मर्यादा का पूरा ध्यान रखा जाता था। युद्ध भूमि में द्रोणाचार्य के उपस्थित होने पर अर्जुन शिष्य का गुरु के साथ युद्ध करना अनुचित बतलाते हैं तथा मर्यादा का पालन करते हुये, गुरु के कहने पर भी वे गुरु से पहला बाण छोड़ने को कहते हैं[७]। पितामह भीष्माचार्य के युद्ध भूमि में पृथ्वी पर गिर पड़ने पर दोनों पक्षों के सभी राजा रण छोड़कर आचार्य के पास आ जाते हैं[८]। इससे स्पष्ट है कि बड़ों का मान-सम्मान युद्ध भूमि में भी किया जाता था।

पाण्डव पुराण के युद्ध वर्णनों में प्रायः अनेक प्रकार के दिव्य अस्त्र-शस्त्र प्रयोग करने का उल्लेख आया है—उदाहरणतः शासन देवता से प्राप्त नागबाण[९], उत्तम दैवी गदा[१०], जलबाण, स्थल बाण तथा नभ बाण[११]। विद्या के बल से भी युद्ध किया जाता था। इस सन्दर्भ में माहेश्वरी विद्या[१२], बहुरूपिणी, स्तंभिनी, चक्रिणी, शूला, मोहिनी[१३], भ्रामरी आदि का उल्लेख युद्ध वर्णनों में पाया जाता है।

१. पाण्डव पुराण, ३।८१-८४।
२. पाण्डव पुराण, १५।१३०-१३१।
३. पाण्डव पुराण, ३।१०४।
४. पाण्डव पुराण, १८।१७०, १९।४५, १९।९६।
५. पाण्डव पुराण, २०।३८, १९।१९६।
६. पाण्डव पुराण, २०।२४१।
७. पाण्डव पुराण, १८।१३१-१३४।
८. पाण्डव पुराण, १९।२५१।
९. पाण्डव पुराण, २०।१७६।
१०. पाण्डव पुराण, २०।१३३।
११. पाण्डव पुराण, २०।२८३।
१२. पाण्डव पुराण, २०।३०७।
१३. पाण्डव पुराण, २०।३३०।

पाण्डव पुराण में युद्ध वर्णनों का बाहुल्य है। कवि का युद्ध वर्णन का कौशल अद्वितीय है। युद्ध वर्णनों के पठन अथवा श्रवण मात्र से ही युद्ध की भीषणता का दृश्य आखों के सामने उपस्थित हो जाता है। उदाहरणार्थ— अर्जुन के द्वारा गिराये हुये भग्न रथों से मार्ग रुक गया तथा जिनकी शुण्डायें टूट गयी है और जो दुःख से चिग्घाड़ रहे हैं ऐसे हाथियों से मार्ग व्याप्त हुआ। रणभूमि में मस्तक रहित शरीर नृत्य करने लगे तथा उनके मस्तकों द्वारा भूमि लाल हो गयी। अगाध समुद्र में तैरने के लिये असमर्थ मनुष्य जैसे उसमें कहीं भी स्थिर नहीं होते वैसे ही योद्धाओं के रक्त के प्रवाह में तैरने वाले मानव कहीं भी नहीं ठहर सके[१]।

युद्ध के प्रारम्भ में रण सूचक वाद्य बजाये जाते थे इनमें रणभेरी[२], पाञ्चजन्य शंख[३], देवदत्त शंख[४], दुन्दुभि[५], आदि का उल्लेख आया है। सैन्य में हुये शकुन तथा अपशकुन पर भी विचार करने का उल्लेख पाण्डव पुराण में आया है। मगधपति जरासन्ध के सैन्य में अनेकों दुर्निमित्त हुये जो कि जय के अभाव को सूचित करते थे तब दुर्योधन ने अपने कुशलमन्त्री को बुलाकर इन सब दुर्निमित्तों के बारे विचार किया था[६]।

न्याय तथा दण्ड व्यवस्था

न्याय तथा दण्ड व्यवस्था के बारे में पाण्डव पुराण में विशेष उल्लेख नहीं आया है एक स्थान पर केवल इतना कहा गया है कि श्रीवर्मा राजा ने अपने चार ब्राह्मण मन्त्रियों को, जो कि अकम्पनाचार्य के संघ को तथा श्रुतसागर मुनि को मारने के लिये उद्यत हुये थे, गधे पर बैठा कर तथा उनके मस्तकों को मुड़वाकर दण्ड स्वरूप उन्हें नगर से बाहर निकाल दिया था[७]। इसके अतिरिक्त कहीं पर भी न्याय व दण्ड विधान का कोई भी उल्लेख नहीं आया है।

—द्वारा बलराम सिंह बिश्नोई
२१, पटेलनगर, मुजफ्फरनगर
२५१००१ (उ० प्र०)

१. पाण्डव पुराण, २०।१११-११३।
२. पाण्डव पुराण, ३।८१, १९।३२।
३. पाण्डव पुराण, १९।७७, २०।१६४।
४. पाण्डव पुराण, २१।१२७।
५. पाण्डव पुराण, १५।१२९।
६. पाण्डव पुराण, १९।८२-८५।
७. पाण्डव पुराण, ७।४९-५०।

जैन निर्वाण : परम्परा और परिवृत

ईश्वर दयाल

प्रास्ताविक

भारतोय और पाश्चात्य दर्शन-परम्पराओं में विभेद का एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है—निर्वाण। पाश्चात्य धार्मिक-दार्शनिक परम्परा स्वर्ग पर आकर रुक जाती है चाहे उसे यूनानियों का एलीजियम कहें, ईसाइयों का पैराडाइज या यहूदियों और मुस्लिम परम्पराओं का मधु और दुग्ध से भरा प्रदेश। भारतीय दर्शन यह मानता है कि दुःख से एकांतिक मुक्ति और सुख की एकांतिक उपलब्धि मात्र कल्पना है। सुख और दुःख का अपरिहार्य सम्बन्ध है। अगर दुःखों के पार जाना है तो सुख के पार भी जाना होगा। सुखों के पार जाना है तो कामनाओं के पार भी जाना होगा। निष्कामता और वीतरागता ही मार्ग है उनका जो महावीर के शब्दों में "पारं गमा" है—पार चले गये हैं, "तीरं गमा" है—किनारे पहुँच चुके हैं, "ओघं तरा" है—समुद्र को पार कर चुके हैं। वह "पार" क्या है? वह लक्ष्य क्या जिसे केन्द्र बनाकर भारतीय दर्शन-परम्पराओं की सारी साधनाएँ चल रही हैं?

निर्वाण

जैन एवं बौद्ध परम्पराओं में निव्वाण या निब्बाण शब्द अनेकशः आया है और आत्म-साधना के परम लक्ष्य के रूप में उस पर गहरा विवेचन भी उपलब्ध है। उसी अर्थ में वैदिक परम्परा में भी "निर्वाण" का प्रयोग मिलता है। गीता में "ब्रह्मनिर्वाण" शब्द प्रयुक्त हुआ है। उपनिषदों में भी बार-बार इस शब्द का प्रयोग आया है। इसका अर्थ आत्म-साक्षात्कार तथा ब्रह्मलीनता है[1]।

व्युत्पत्ति

अभिधम्म महाविभाषा में "निर्वाण" शब्द की अनेक व्युत्पत्तियां प्रज्ञप्त हैं, यथा :

* वाण का अर्थ है "पुनर्जन्म का रास्ता"। "निर" अर्थात् "छोड़ना"। अतः निर्वाण का अर्थ हुआ "स्थायी रूप से पुनर्जन्म के रास्ते को छोड़ना"।

* "वाण" का अर्थ है दुर्गन्ध"। 'निर' अर्थात् नहीं। इस सन्दर्भ में निर्वाण का अर्थ है "वह स्थिति जो दुःख देने वाले कर्मों की दुर्गन्ध से सर्वथा मुक्त है"।

* "वाण का अर्थ है "घना जंगल"। निर अर्थात् इससे छुटकारा पाना। अतः "निर्वाण" का अर्थ हुआ "एक ऐसी स्थिति जिसमें स्कन्धों, तीन प्रकार की अग्नि (उत्पत्ति, स्थिति और विनाश) के घने जंगल से छुटकारा पा लिया गया हो"।

---

१ भारतीय दर्शन में मोक्ष चिन्तन : डा० अशोक कुमार लाड, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पृ० ६४।

* "वाण" का अर्थ है "बुनना"। निर अर्थात् नहीं। अतः निर्वाण सभी प्रकार के दुःख देने वाले कर्म रूपी धागे से, जो जन्म मरण का ताना-बाना बुनते हैं, पूर्णतः मुक्ति है[१]।"

कुल मिलाकर बौद्धों की निर्वाण परिकल्पना एक नकारात्मक स्थिति की व्यंजक है, विनाश मूलक है यद्यपि इसका अर्थ लाक्षणिक ही प्रतीत होता है, अभिधात्मक नहीं। राइस डेविड्स के शब्दों में "निर्वाण पापशून्य मन की शान्त स्थिति है और उसे हम श्रेष्ठ रूप से दिव्य ज्योति, अन्तर्दृष्टि, सत्य और मुक्तिदाता, पराज्ञान, सुख, शान्ति, शीतलता, सन्तोष, शुभ, सुरक्षा, स्वातन्त्र्य, स्वशासन, सर्वोच्च सुअवसर, पवित्रता, पूर्ण शान्ति, शुभत्व और प्रज्ञा आदि शब्दों में व्यक्त कर सकते हैं[२]। सर्वपल्ली डा० राधाकृष्णन् के अनुसार बुद्ध का आशय केवल मिथ्या इच्छा का विनाश करना था, जीवन मात्र का विनाश करना नहीं। काम-वासना, घृणा एवं अज्ञान के नाश का नाम ही निर्वाण है[३]।

निर्वाण : जैन व्याख्या

जैन परम्परा में निर्वाण की विनाश मूलक व्याख्या भी मिलती है। भगवतीआराधना में निर्वाण का अर्थ है विनाश—जैसे दीपक का बुझ जाना। लेकिन लाक्षणिक सन्दर्भ में ही यह बात लागू होती है अर्थात् कर्मों का सम्पूर्ण विनाश। "निर्वाणं विनाशः तथा प्रयोगः प्रदीपो नष्ट इति यावत् विनाशसामान्यमुपादाय वर्तमानोऽपि निर्वाणशब्दः चरणशब्दस्य निर्वातकर्मशात्[४]"। अभिधानचिन्तामणिकोश में भी निर्वाण का इसी प्रकार अर्थ दिया गया है—"निर्वातस्तु गतेवाते निर्वाणः पावकादिषुः[५]" अमरकोष में भी इसकी व्याख्या बुझ जाने के अर्थ में ही मिलती है[६]। बौद्धों के ही समानान्तर जैन-परम्परा ने इसका अर्थ कर्म-वाणों से मुक्त होने के रूप में भी की है[७]।

जैन परम्परा के अनुसार भो निर्वाण कर्मों का, उनसे सम्भूत दुःखों का, जन्म-जन्मान्तर की परम्परा का ही उच्छेद है, जीव-सत्ता का नहीं। निर्वाण के "अभिधानचिन्तामणि" में प्रस्तुत पर्यायवाची शब्द इसो सत्य के संसूचक हैं :

महानन्दोऽमृतं सिद्धि कैवल्यमपुनर्भवः
शिवं निःश्रेयसं श्रेयो निर्वाणं ब्रह्म निर्वृतिः ॥
महोदय सर्वदुःखक्षयो निर्याणमक्षरम्
मुक्ति मोक्षोऽपवर्गोऽथ..................[८] ॥

---

१. Systems of Buddhistic Thoughts : Sogeu—Page 34-42।
२. A History of Indian Philosophy : J. N. Sinha Vol. II P. 330।
३. भारतीय दर्शन : डा० राधाकृष्णन्, भाग—२, पृ० ४११–१२।
४. भगवतीआराधना ११।५३।२०।
५. अ० चि० ६।१४८४।
६. भारतीय दर्शनों में मोक्ष चिन्तन—डा० अशोक कुमार लाड, पृ० ६४।
७. तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर : पद्मचन्द्र शास्त्री, पृ० १०४।
८. अभिधानचिन्तामणि, काण्ड—१, श्लोक—७४-७५।

मोक्ष और निर्वाण : जैन परम्परा के सन्दर्भ में

जैन दर्शन के नव तत्त्वों में मोक्ष शब्द का ही प्रयोग मिलता है। समयसार के अनुसार इनका क्रम इस प्रकार है : जीवाजीवा य पुण्णपावं य आसव संवर णिज्जर बन्धो मोक्खो[1] आचार्य शुभचन्द्र ने पाप-पुण्य को छोड़कर सात तत्त्वों की गणना इस प्रकार की है :

जीवाजीवास्रवाबन्धः संवरो निर्जरा तथा।
मोक्षश्चैतानि सप्तैव तत्त्वान्यूचुर्मनीषिणः ॥ ३ ॥

तत्त्वार्थसूत्र में मोक्ष का अर्थ है, "बन्ध के हेतुभूत कर्मों की निर्जरा होने पर उनका हेतु रूप में अभाव" अर्थात् उनसे मुक्ति—'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्न कर्मधिप्रमोक्षो मोक्षः[2]। आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में कर्मों के निराकृत होने पर उनके कलुष से निर्मल आत्मा की ज्ञानादि गुण तथा अव्यापाद्य की अवस्था को मोक्ष कहा है—निरविशेषनिराकृतकर्ममलकलंकस्याशरीरस्थात्मनोऽचिन्त्य स्वाभाविकज्ञानादिगुणमव्याबाद्यसुखमात्यंतिकमवस्थान्तरं[3]। न्यायवार्तिक में भी मोक्ष को आत्यन्तिक दुःख भाव कहा है अर्थात्, दुःखों से मूलतः मुक्ति[4]। तर्कदीपिका में भी इसे "परम दुःखध्वंसः" अर्थात् दुःख का अन्तिम रूप से मिटाना कहा गया है[5]। न्यायसूत्र में "आत्यन्तिक दुःखनिवृति" अर्थात् मूल दुःख से निवृत्ति बताया गया है[6]।

निर्वाण और मोक्ष शब्द परस्पर पर्यायवाची सन्दर्भों में प्रयुक्त किये गये हैं। निर्वाणवादी जैन परम्परा के सात या नौ तत्त्वों में निर्वाण का न होना तथा उसके स्थान पर मोक्ष का होना यही सूचित करता है।

नव तत्त्व और आत्मा

उत्तराध्ययनसूत्र में नौ तत्त्वों की विवेचना मिलती है :

जीवाजीवा य बन्धो य पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो संते ए तहिया नव[7] ॥

आस्रव की ही दो परिणतियाँ पाप और पुण्य हैं, अतः कुल मिलाकर सात ही तत्त्व बचते हैं। इसी कारण आचार्य शुभचन्द्र ने सात ही तत्त्व प्रतिपादित किये हैं। इनमें भी बन्ध, मोक्ष, संवर, निर्जरा, आस्रव आदि जीव और अजीव की ही स्थितियाँ मात्र हैं। अतः कुल मिलाकर तत्त्व दो ही ठहरते हैं—धर्मी व धर्म अर्थात् जीव और अजीव। श्लोकवार्तिक के अनुसार :

---

१. समयसार, पृ० १४-१५ गा० १५।
२. तत्त्वार्थसूत्र, १०।२।
३. तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर : पद्मचन्द्र शास्त्री, पृ० ८०।
४. भारतीय दर्शनों में मोक्ष चिन्तन : डा० अशोक कुमार लाड, पृ० ११७।
५. वही पृ० ११७।
६. न्यायसूत्र १।१।२ (वात्स्यायन भाष्य)।
७. उत्तराध्ययनसूत्र २८।१४।

जीवजीवौ हि धर्मिणौ तद्धर्मास्त्वा शुभादय इति।
धर्मिधर्मात्मकं तत्त्वं सप्तविधमुक्तम्[१] ॥

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मतितर्क में यही प्ररूपणा की है[२]। आचार्य अमृतचन्द्र इससे भी आगे जाकर कहते हैं :

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्च कारित तत्।
नव तत्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुञ्चति[३] ॥

निश्चय दृष्टि से देखने पर तो एकमात्र आत्म ज्योति ही जगमगाती है, जो इन नव तत्त्वों में धर्मीरूपेण अनुगत होते हुए भी अपने एकत्व को नहीं छोड़ती।

जीव द्रव्य : मूल स्थिति

जैन दर्शन छः द्रव्यों की सत्ता प्ररूपित करता है—जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल[४]। जीव द्रव्य-दृष्टि से एक है, पर्यायों की दृष्टि से अनेक है। यह उपयोग लक्षणात्मक है अर्थात् ज्ञान-दर्शनमय। तीनों कालों में ज्ञान-दर्शन के सतत परिवर्तन होने की दृष्टि से यह अनेक है। कभी न्यूनाधिक नहीं होने वाले प्रदेशों की दृष्टि से यह अक्षय है, अव्यय एवं अवस्थित है। भगवतीसूत्र में भगवान् ने इन्हीं सब अपेक्षाओं से अपने को एक, दो, अनेक, अक्षय और अव्यय बताया है।

"सोमिला दव्वट्ठयाए एगे अहं नाण दंसणट्ठयाए दुविहे अहं पएसट्ठयाए अक्खए वि अहं अव्वए वि अहं अवट्ठिए वि अहं उवयोगट्ठाए अणेग भूयभाव भविए वि अहं[५]"। जीव अनन्त है। गुणात्मक दृष्टि से सब समान हैं। अनुभव, इच्छा-शक्ति और भाव उसके गुण हैं। वह ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। मूलतः जीव अशरीरी है। अरूप, अवेद, अलेश्य एवं अकर्म है। भगवतीसूत्र में भगवान् ने कहा है—"गोयमा अहं एयं जाणाति जाव जं णं तहागयस्स जीवस्स अरूविस्स अकम्मस्स अवेदस्स अलेसस्स असरीरस्स ताओ सरीराओ विप्पमुक्कस्स नो एयं पन्नायति तं जहा कालत्ते वा जाव लुक्खत्ते वा"[६]।

बन्ध मोक्ष की प्रक्रिया

बन्ध अनादि काल से है। जीव शाश्वत रूप से बद्ध और मुक्त दोनों स्थितियों में अनन्त संख्यात्मक है। बन्ध कर्मों का होता है। कर्म पाप और पुण्य दो प्रकार के होते हैं। बन्ध का कारण आस्रव है जो मन-वचन-काय की क्रिया है, जो भावात्मक और द्रव्यात्मक दोनों प्रकार की होती है। संवर है आस्रव का रुक जाना, निर्जरा है तप द्वारा कृत कर्मों का क्षय तथा मोक्ष है इसकी निष्पत्ति। बन्ध से मोक्ष तक आत्मा की एक निरन्तर गति है, जिसका पर्यवसान मोक्ष में होता है—मोक्ष परिणति है और निर्वाण है स्थिति। एक पतली सी यही भेद रेखा यहां दृष्टिगोचर होती है—मोक्ष और निर्वाण में।

१. श्लोकवार्तिक २।१।४।
२. सन्मतितर्क, १।४६।
३. समयसार कलश० ७।
४. आचार्य शुभचन्द्र, द्रष्टव्य तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर : पद्मचन्द्र शास्त्री पृ० ८२।
५. भगवतीसूत्र १।८।१०।
६. उपरिवत् १७।२।

निर्वाणस्थ आत्मा की स्थिति

कैवल्य भाव मोक्ष है। चार घातीय कर्मों का यहाँ विनाश हो जाता है। शेष चार कर्मों की निर्जरा होने पर द्रव्य-मोक्ष होता है। द्रव्य-मोक्ष की स्थिति के बारे में जैन-धर्म की विभिन्न परम्पराओं में प्रमुखतया निम्नलिखित बातें मिलती हैं :

* पुद्गल द्रव्य के निकल जाने से आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में रह जाती है।

* इससे खाली प्रदेशों को आत्म द्रव्य से भरने के बाद उसका आकार शरीर का दो तिहाई रह जाता है।

* वह ऊपर उठती है और लोकाग्र पर जाकर सिद्धशिला पर टिक जाती है।

* उसकी अलोकाकाश में गति नहीं होती क्योंकि वहाँ धर्म-द्रव्य की सत्ता नहीं होती।

* सिद्धों में परस्पर अवगाहना होती है—एक सिद्ध होता है वहाँ एक-दूसरे में प्रवेश पाकर अनन्त सिद्धात्माएँ स्थित हो जाती हैं।

जत्थ य एगो सिद्धो तत्थ अणंता भवक्खय विमुक्का।
अन्नोन्न समोगाढा पुट्टा सव्वे वि लोगंते[1] ॥

* जैसे दग्ध बीजों से फिर अंकुर पैदा नहीं होते वैसे ही मुक्त जीव फिर जन्म-धारण नहीं करते।

जहा दड्ढाणं बीयाणं न जायंति पुण अंकुरा।
कम्म बीयेसु दड्ढेसु न जायंति भवांकुरा[2] ॥

* सिद्धात्माएँ अद्वितीय सुखमय होती हैं। चक्रवर्ती, भोगभूमि या मनुष्य धरणेन्द्र, देवेन्द्र व अहमिन्द्र—इन सब का सुख पूर्व-पूर्व की अपेक्षा अनन्त-अनन्त गुणा माना गया है। इन सब के त्रिकालवर्ती सुख को भी यदि एकत्रित कर लिया जाये, तो भी सिद्धों का एक क्षण का सुख उन सबसे अनन्त गुणा है।

चक्कि कुरु फणि सुरिंद देवहमिंदे जं सुहं तिकालभवं।
ततो अणंत गुणिदं सिद्धाणं खणसुहं होदि[3] ॥

कर्म : भाव ही नहीं, द्रव्य भी

जैन परम्परा के अनुसार कर्म मात्र मनोगत भाव नहीं होते, द्रव्य होते हैं और आस्रव द्वारा जीव के प्रदेशों में व्याप्त होकर उसे वस्तुतः लिप्त करते हैं। डा० नथमल टाटिया के अनुसार : "कर्म केवल आत्मनिष्ठ ही नहीं हैं, जैसा कि बौद्ध दार्शनिक सोचते हैं, वे वस्तुनिष्ठ भी हैं। कर्म का यह सम्प्रत्ययन कि वह केवल भाव ही नहीं बल्कि द्रव्य भी है, जैन दार्शनिकों की अपनी विशेषता है[4]"।

---

१. विशेषावश्यकभाष्य, ३।७६।

२. दशाश्रुतस्कन्ध (भद्रबाहु प्रथम), ५।१५।

३. त्रिलोकसार (आचार्य नेमीचन्द्र), ५६०।

४. Studies in Jain Philosophy—Page xix.

दिगम्बर परम्परा

दिगम्बर परम्परा के अनुसार स्त्री को मोक्ष नहीं मिलती क्योंकि सावरण होने के कारण वह अचेल नहीं हो सकती[१] तथा सचेल चाहे तीर्थंकर भी क्यों न हो उसे मोक्ष नहीं मिल सकता[२]। ये दोनों ही बातें आचार्य कुन्दकुन्द ने कही है लेकिन जहाँ प्रथम प्रक्षेपक होने के कारण उतनी गंभीरता से नहीं लिया जा सकता वहीं दूसरी इतनी निर्णयात्मक है कि उसकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द ने ही समयसार में निश्चय नय से जहाँ अपने विचार रखे हैं, वहाँ वस्त्र ही नहीं, सम्पूर्ण उपकरणों और भोगों के सेवन तक को द्रव्य के स्तर पर निर्णायक मान्यता नहीं दी है। उन्होंने कहा है जैसे अरतिभाव मद्यपान करता हुआ भी कोई नशे में नहीं होता वैसे अरति भाव से द्रव्यों के भोग से भी ज्ञानी बद्ध नहीं होता[३]। जैसे गारुड़ी विद्या के ज्ञाता पुरुष विष को खाते हुए भी मरण को प्राप्त नहीं होते वैसे ही ज्ञानी द्रव्य-कर्मों को भोगते हुए भी उनसे बद्ध नहीं होते[४]। कोई सेवन करते हुए भी नहीं करता है और कोई सेवन नहीं करते हुए भी करता है[५]।

यही भूमिका इस संदर्भ में श्वेताम्बर आगमों की है कि भाव से वस्त्रादि उपकरणों द्वारा लिप्त नहीं होने के कारण द्रव्य के स्तर पर इनका सेवन बन्ध का हेतु नहीं रह सकता—संयम-साधना व लज्जा की रक्षा के लिए ही इनका उपयोग होता है।

जं पि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुच्छणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा धारंति परिहरंति या॥ दशवैकालिक ६।२०

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार, जो भगवान् ने निर्वाण के पूर्व प्रज्ञप्त किया, सिद्ध स्त्री भी हो सकती है, पुरुष भी, नपुंसक भी, जिन मार्गानुयायी भी, आजीवक आदि अन्य मार्गानुयायी भी, गृहस्थ भी।

इत्थी पुरिस सिद्धा य तहव य णवुंसगा।
सलिंगे अन्नलिंगे य गिहिलिंगे तहेव य॥ उत्तराध्ययन ३६।२४८

आत्मा का अपनी मूल स्थिति को प्राप्त होना निर्वाण है और उसमें वह न स्त्री है, न पुरुष, न अन्य कुछ—ण इत्थी, ण पुरिसे, ण अन्नहा[६]। यही अवधारणा भगवान् महावीर की भावना तथा व्यापक दृष्टि के अनुरूप भी है।

---

१. प्रवचनसार २२५ की प्रक्षेपक गाथा ७।
२. सूत्रपाहुड—३२।
३. जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावे ण मज्जदे पुरिसो।
दव्वु व भोगे अरदो णाण वि ण वज्झदि तहेव॥ समयसार—२०५।
४. जह विसमुंवभुज्जंता विज्जा पुरिसा ण मरणमुवयंति।
पोग्गल कम्म सुदयं तह भुंजदि णेव वज्झदे णाणी॥ समयसार—२०४।
५. सेवंतो वि ण सेवंति असेवमाणो वि सेवतो कोवि।
पगरण चेट्ठा कस्सवि णय पायर णोत्ति सो होदि॥ समयसार—२०६।
६. आचारांग—५।५।१३४ (आचार्य तुलसी की वाचना)।

आत्मा की माप-जोख

पारम्परिक जैन मान्यता यह है कि निर्वाण के समय आत्मा पूर्व शरीर के ही दो तिहाई आकार में होती है। क्योंकि कर्म-परमाणुओं के निकल जाने पर खाली हुए प्रदेशों को भर कर आत्म-परमाणु घनीभूत हो जाते हैं। इसका कारण परम्परा यह मानती है कि शैलेषी अवस्था के साथ ही सारे कर्म समाप्त हो जाते हैं और कर्म के अभाव में आत्मा की कोई गति संभव नहीं। लेकिन यह मान्यता निम्न दृष्टियों से देखने पर कुछ प्रश्नों को जन्म देती है।

* जैन परम्परा मानती है कि आत्मा के प्रदेश का विस्तार सारे लोक तक हो सकता है। केवलि समुद्घात के समय सारे लोक में आत्म-प्रदेश फैल कर व्याप्त हो जाते हैं। दिगम्बर परम्परा की मान्यता है कि निर्वाण के पूर्व केवलि समुद्घात होता है। फिर आत्मा के सारे प्रदेश पुनः संकुचित होकर शरीर का दो तिहाई विस्तार ग्रहण कर लेते हैं। इससे यह ध्वनित होता है कि आत्मा स्वभाव से लोकव्यापी है।

* अगर कर्म शेष होने के कारण आत्मा अपना मूल लोकव्यापी विस्तार नहीं पा सकती तो कर्म के अभाव में वह संकोच की प्रक्रिया भी कैसे सम्पन्न कर सकती है?

* अगर कर्म-द्रव्य के अभाव से शून्य प्रदेशों को भरने के लिए उसका संकुचित होना आवश्यक है तो कर्मावरणों के क्षीण होकर समाप्त हो जाने पर उसका फैल कर अपना असीम आयाम ग्रहण कर लेना भी आवश्यक होना चाहिए।

* क्या आत्मा का सघनतम आयाम मानव-शरीर का दो तिहाई ही है अपनी मूल स्थिति में संकुचित और घनीभूत होते समय अगर मानव-शरीर का दो तिहाई ही उसकी संकोच सीमा है और उससे अधिक उसका संकोच संभव ही नहीं तो निगोदिया जीव, जिसकी अवगाहना सबसे कम होती है, में वह कैसे रह पाती है? अगर संकुचित होकर आत्मा अपनी मूल द्रव्यात्मक सत्ता ही पाना चाहे तो वह निगोदिया जीव से भी छोटी होनी चाहिए क्योंकि उसमें आत्मा तथा द्रव्य-पुद्गल दोनों होते हैं और वह मानवीय आत्मा के समान ही अपनी मूल सत्ता में होती है।

* अगर कर्म से ही सारी गति होती है, तो कर्म-मुक्ति की गति-शून्य अवस्था एक भयंकर बन्धन हो गई क्योंकि मरण-काल की स्थिति में ही उसे अनन्त काल तक सिद्धशिला पर रहना होगा।

* अगर आत्मा में खाली प्रदेश हो ही नहीं सकते और अजीव-द्रव्य के निकलते ही उसे उन्हें भर कर घनीभूत होना ही पड़ता है तो सिद्धों की आत्माओं की परस्पर अवगाहना कैसे संभव होती है?

* शरीर से मुक्त होने का अर्थ है रूप से मुक्त होना—आकार से मुक्त होना क्योंकि रूप की परिधि मात्र ही आकार है। अरूप निराकार होगा, निराकार निःसीम होगा क्योंकि आकार सीमा ही है। और निःसीम दो नहीं हो सकते क्योंकि ऐसी स्थिति में वे दोनों एक दूसरे की सीमा को ससीम कर अपनी निःसीम सत्ता ही समाप्त कर डालेंगे। अतः आत्मा की सत्ता पर अनेकात्मकता ठहर नहीं पाती।

* गुण शरीर के साथ जुड़े हैं। शरीर मुक्त गुणातीत होगा और संख्या स्वयं एक गुण है अतः उसके भी पार ही होगा। उसे अनन्त कहें या एक—संख्या की दृष्टि से इन सब अभिधाओं का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

* पार्थक्य का आधार है व्यक्तिगत भिन्नताएँ, जो शरीर और मन के पार अपनी कोई सत्ता नहीं रखती—शेष रहती है निर्गुणात्मक सत्ता जो अभेद है, अतः अभिन्न भी है और अभिन्न है अतः एक भी है।

यही है निर्वाण की परम अद्वैत स्थिति जो वेदान्त परम्परा का ब्रह्म है, सूफियों का शून्य, बुद्ध का लोकव्यापी धर्म धातुकाय, लाओ-त्जे का ताओ, कनफ्यूशियस की हार्मनी। आचारांगसूत्र जिसे हर्मन जैकोबी ने महावीर की प्रामाणिक वाणी का स्रोत माना है, में भगवान् ने निर्वाणस्थ आत्मा का जो चित्र प्रस्तुत किया है उसमें सिद्धशिला, अवगाहना एवं आकारमय असंख्य जीवों, ऊर्ध्वगमन आदि बातों का कोई सन्दर्भ नहीं है। वस्तुतः सिद्धशिला आत्मा की परम शुद्ध एवं सर्वोच्च पवित्रता की स्थिति तथा लोक की अग्रसत्ता के रूप में उसकी गरिमा की प्रतीक है। ऊर्ध्वगमन भावना के स्तर पर आत्मा के विकास, आत्मा-साधना की आरोहणमयी स्थिति की प्रतीक है। इन्हें परवर्ती परम्परा ने अभिधात्मक अर्थ में लेकर एकदम अनर्थ की सृष्टि कर डाली है। भगवान् ने निर्वाण की स्थिति का जो चित्र प्रस्तुत किया है वह परम प्रेरणादायी है :

सव्वे सरा णियट्टन्ति
तक्का जत्थ ण विज्जइ
मइ तत्थ ण गहिया
ओए अप्पतिट्ठाणस्स खेयन्ने

"सारे स्वर लौट आते हैं वहाँ से
तर्क की सत्ता नहीं रहती जहाँ
ग्रहण ही नहीं कर पाती जिसे बुद्धि
वह निराधार निःसीम ज्ञाता तत्त्व।'

से ण दीहे, ण हस्से
ण वट्टे ण तंसे ण चउरंसे ण परिमंडले

"वह न बड़ा है न छोटा आकार में
न गोल, न त्रिकोण, न चतुष्कोण; न परिमंडल
(कोई माप नहीं जिसका, न कोई आकार)

ण किण्हे ण णीले लोहिए ण हालिद्दे ण सुक्किल्ले
ण सुब्भिगंधे, ण दुब्भिगंधे।

"वह न काला है न नीला, न लाल, न नारंगी, न सफेद
न सुगन्धित है, न दुर्गन्धित।"

ण तित्ते ण कडुए ण कसाए णअंबिले ण महुरे
ण कक्खडे ण मउए ण गरूए ण लहुए
ण सीए ण उण्हे ण णिद्धे ण लुक्खे।

"वह न तिक्त है न कटुक न कसैला, न खट्टा, न मीठा
न कठोर, न कोमल, न भारी, न हल्का
न स्निग्ध न रूखा"।

ण काऊ	"कोई शरीर नहीं है जिसका"
ण रुहे	"कभी जन्म नहीं होगा जिसका"
ण संगे	"स्पर्श नहीं कर सकता जिसको कोई"
ण इत्थी ण पुरिसे, ण अन्नहा	"वह न स्त्री है, न पुरुष, अन्य कुछ भी नहीं"
परिण्णे सण्णे	"वह ज्ञाता है, चेतन है"
उवमा ण विज्जए	"कोई उपमा नहीं है उसकी"
अरूवी सत्ता	"अरूपी सत्ता है"
अपयस्स पयं णत्थि	"उस निर्विशेष की कोई विशेषता नहीं कही जा सकती"

यह है निर्वाण की परम स्थिति जो गुणातीत है, शब्दातीत है, अद्वैत है। द्वैत रूप गुणात्मक होते हैं। शरीर के पार, मन के पार रूप-गुणों की सत्ता नहीं रहती। अतः द्वैत की सत्ता भी नहीं रहती। उसे शून्य कहें या सर्व, दोनों मात्र दो शब्द हैं। महाप्राण निराला ने लिखा है—"शून्य को ही सब कुछ कहें या कुछ भी नहीं, दोनों एक ही चीज है" (शून्य और शक्ति) लोक-अलोक की सारी सीमाएँ उस ज्ञाता की परम सत्ता के समक्ष अदृश्य हो जाती हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में कहा है :

आदा णाण पमाणं णाणं णेय प्पमाणमुदिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं॥

ज्ञाता ज्ञान प्रमाण है, ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है, तथा ज्ञेय है लोकालोक प्रमाण। अतः सर्वगत है ज्ञान, सर्वगत है ज्ञाता-आत्मा अपनी शुद्ध-बुद्ध सत्ता में। महावीर के शब्दों में आत्मा एक है—एगे आया। इस एक को जो जानता है वह सब को जानता है—जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ। यही वेदान्त, बौद्ध, ताओ, कनफ्यूसियस, ईसाई, जरथुस्त्र—दर्शन का मन्तव्य है। भेद हैं तो शब्दों के, जो देशकाल व परम्परा-सापेक्ष होते हैं। लेकिन अभेद है सत्य, एक है सत्य, भगवान् है सत्य—सच्चं भगवं।

●

सर्वोदय महाविद्यालय
पत्रा०–गंध भड़सरा
रोहतास, बिहार—८०२२१

व्यावहारिक जीवन में नाम, रूप, स्थापना और प्रतीक

—विश्वनाथ पाठक

प्रायः जीवन में प्रयोजन-सिद्धि के लिये बहुत सी काल्पनिक मान्यतायें भी अपरिहार्य बन जाती हैं। नाम, रूप, स्थापना और प्रतीक ऐसी ही विभूतियाँ हैं। यथार्थ न होने पर भी इन असत् मान्यताओं और मूल्यों को अस्वीकार करना कठिन ही नहीं, असंभव भी है। ज्ञानी, मूढ, असाधु, साधु, शिक्षित और अशिक्षित—कोई भी हो, यदि वह समाज में रह कर साँसें लेता है तो इन विभूतियों की अनुल्लंघनीय लक्ष्मण-रेखा के उस पार नहीं जा सकता।

प्रत्येक द्रव्य का एक नाम अवश्य होता है। यह नाम न तो वस्तुनिष्ठ है और न वक्तृनिष्ठ। यदि वह द्रव्य (नामी) में रहता तो वहाँ उसकी उपलब्धि अवश्य होती। उच्चारण के पूर्व और पश्चात् अविद्यमान रहने के कारण उसे वस्तुनिष्ठ भी नहीं कह सकते हैं। ध्वनिभिन्न द्रव्य का ध्वनि से तादात्म्य-स्थापन ही नामकरण है। यह तादात्म्य नितान्त कल्पित है, क्योंकि नाम एक वर्णात्मक ध्वनि होने के कारण स्थूल द्रव्य से स्वरूपतः भिन्न होता है। नामी (द्रव्य) का दर्शन होता है और नाम का श्रवण। आँख मूँद लेने पर नामी अदृश्य हो जाता है, किन्तु नाम तब भी सुनाई देता है। ईश्वर, जीव आदि सूक्ष्म द्रव्य इन्द्रियातीत, नित्य और अनुत्पाद्य हैं, परन्तु उनके नाम इन्द्रियग्राह्य, अनित्य और प्रयत्नोत्पाद्य हैं। नाम न तो नामी में संयुक्त है और न समवेत। अतः कमल नाम में जिन क, म और ल ध्वनियों का सन्निपात सुनाई देता है, उनकी उपलब्धि कमल द्रव्य के किसी भी भाग में नहीं होती है। नाम और नामी में आर्थिक-अन्विति ध्रुव नहीं है, अतः अधिकांश नाम झूठे होते हैं। आशा देवी का जीवन निराशा में ही बीतता है, गिरिजापति अविवाहित ही मरता है, आलोक के घर में अँधेरा दिखाई देता है, विद्यासागर के मूर्खता की चर्चा घर-घर होती है और कुबेर सड़कों पर भीख माँगता फिरता है। नामी के रहने पर नाम का भी रहना अनिवार्य नहीं है। वनों और गाँवों में असंख्य कीट, पतंग, सरीसृप, तृण, गुल्म, विहंग, वीरुध् और वनस्पतियाँ पड़ी हैं, जिनका अभी तक नामकरण ही नहीं हुआ है। नामी (द्रव्य) के अभाव में नाम का भी अभाव हो जाना आवश्यक नहीं है। महात्मा गाँधी अब नहीं हैं किन्तु उनका नाम कोई कभी भी ले सकता है। इस प्रकार नाम और नामी में न तो अन्वय है और न व्यतिरेक ही। बालक अनाम ही उत्पन्न होता है। एक बार नाम रख कर उसे पुराने वस्त्र के समान बदला भी जा सकता है। शब्द शासन में प्रतिपादित नाम और नामी (अर्थ या द्रव्य) का ज्ञाप्य-ज्ञापक रूप सम्बन्ध भी व्यभिचार दोष से मुक्त नहीं है। काम्बु शब्द संस्कृत में शंख और तमिल में छड़ी का ज्ञापक है और वही एक अशिक्षित मूर्ख की दृष्टि में बिल्कुल निरर्थक है। हिन्दी में फुलकी का अर्थ रोटी है और बँगला में चिनगारी। किसी अन्य प्रदेश में चले जाइये तो उसका कुछ भी अर्थ नहीं समझा जायेगा। हिन्दी और संस्कृत में जो शरीर शब्द देह का वाचक है, वही अरबी में दुष्ट का अर्थ देता है। अन्य स्थानों पर वही निरर्थक भी हो सकता है। अंग्रेजी के बहुत से शब्द हिन्दी में दूसरा अर्थ देते हैं। इस प्रकार एक ही आकृति वाले शब्दों की ज्ञापकता में आकाश और पाताल का अन्तर है। इतना ही नहीं, कभी-कभी

ज्ञापक के रहने पर भी ज्ञाप्य का ज्ञान नहीं होता है। भारतीय शब्द ईरान और चीन में तब तक कोई अर्थ नहीं प्रकाशित कर सकते, जब तक उनका अर्थों से आरोपित और सांकेतिक सम्बन्ध न बताया जाये। एक ही भाषा-क्षेत्र में दस-पंद्रह कोस की दूरी पर बहुत से शब्दों के अर्थ नहीं समझे जाते हैं। नाम और नामी के सम्बन्ध की अव्याप्ति उस समय और स्पष्ट हो जाती है, जब हम किसी शब्द (नाम) का प्रयोग ऐसे द्रव्य (नाम) के लिये करते हैं, जिसके लिए उसे मान्यता नहीं मिली है। घर में जब किसी नौकर से कोई बड़ी भूल हो जाती है तब न तो उसके चार पैर निकल आते हैं और न पीछे पूँछ ही उग जाती है, फिर भी बाहर 'सत्यं वद धर्मं चर' का ढोल पीटने वाला महोपदेशक भी उसे गदहा कहने में नहीं चूकता है। गाँव का अध्यापक छोटे बच्चों को 'क माने कौआ और अ माने आम' पढ़ाता है। जरा उससे पूछिये कि ये अर्थ उसने किस शब्दकोश में देखें हैं। रेखागणित में रेखाओं, कोणों और त्रिभुजों के नामों में कितनी सत्यता है, इसे यदि जानना चाहें तो घर की दीवारों के कोनों और किसी भी त्रिभुजाकार वस्तु को देख लें। अबोध बालक पूर्वसिद्ध द्रव्यों को प्रत्यक्ष देखता है। उस समय उसे शब्दों और द्रव्यों के सांकेतिक सम्बन्ध अज्ञात रहते हैं। धीरे-धीरे वह परिवार और समाज के साहचर्य में रह कर तत्-तत् द्रव्यों का तत्-तत् शब्दों (ध्वनियों) से कृत्रिम सम्बन्ध समझता है और वैसे ही शब्दों का उच्चारण करना सीखता है, तब कहीं जाकर वाक्शक्ति स्फुरित होती है। यदि वही बालक समाज से पृथक् कर दिया जाये तो गूँगा हो जायेगा। यदि शब्द और अर्थ में यथार्थ सम्बन्ध होता तो जैसे अनुपहतेन्द्रिय मनुष्य के लिए दर्शन की क्रिया स्वाभाविक होती है, वैसे ही भाषण भी स्वाभाविक होता है। बाल्यकाल के प्रयत्नों की स्मृतियाँ स्थिर नहीं रह पाती हैं, अतः मातृभाषा स्वाभाविक सी लगती है, परन्तु जब कोई विदेशी भाषा सीखनी पड़ती है तब पता चलता है कि यह कार्य कितना आयास-साध्य है। विभिन्न भाषाओं में एक ही नामी के भिन्न-भिन्न नाम हैं। यदि नाम की आकृति निश्चित होती और उसका नामी से ध्रुव सम्बन्ध होता तो सभी देशों और कालों में प्रत्येक द्रव्य का एक ही नाम रहता। परन्तु एक ही द्रव्य के अनेक देशों और कालों में अनेक नाम पाये जाते हैं अतः सभी कल्पित हैं और सभी मिथ्या हैं। उपनिषदों ने ईश्वर को अशब्द कहा था, परन्तु उस अव्यपदेश्य एवं परात्पर शक्ति के भी असंख्य नाम गढ़ लिये गये हैं। कोई अल्लाह कहता है, कोई गॉड और कोई ईश्वर। ये झूठे नाम ही संसार के नाना धार्मिक सम्प्रदायों में प्रचलित उपासना के मूलाधार हैं। यदि हम यथार्थ के नशे में आकर सभी अयथार्थ मान्यताओं को बिलकुल ठुकरा दें तो भजन, कीर्तन, जप, स्तुतियाँ और आराधनायें सभी बन्द हो जायेंगी।

परमार्थ निर्विकल्पक भी हो सकता है, परन्तु व्यवहार सर्वथा सविकल्पक है। हम उसके लिये कल्पित नाम ही नहीं गढ़ते हैं, कल्पित रूप भी रचते रहते हैं। यथार्थ-दृष्टि से द्रव्य सत् है। सत्ता ही उसका लक्षण है, परन्तु व्यवहार में एक ही द्रव्य में अनेक कल्पित नाम और रूप प्रकट हो जाते हैं। मृत्तिका से घट, शराव (सकोरा), कुण्ड, चषक, हाथी, घोड़े तथा अन्य खिलौनों की आकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। सुवर्ण कुण्डल, कटक, केयूर, किंकिणी, किरीट, दीनार और निष्क के रूपों में परिणति प्राप्त करता है। तन्तुओं के संयोग से पट की आकृति का प्रादुर्भाव होता है। ये सभी आकृतियाँ और नाम मानव-निर्मित हैं, द्रव्य में प्रारम्भ से नहीं रहते हैं। इस प्रकार मनुष्य प्रकृति से उपादान के रूप में प्राप्त द्रव्यों को आवश्यकतानुसार विविध रूपों में परिष्कृत और परिणत करता रहता है, किन्तु उन रूपों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, क्योंकि ध्वंस के पश्चात् सभी

आकृतियाँ विलीन हो जाती हैं, द्रव्य ही शेष रहता है। यद्यपि मानवकृत नामों और रूपों की पारमार्थिक सत्ता नहीं है, तथापि उनके बिना काम नहीं चल सकता है। तन्तु माँगने पर पट नहीं मिल सकता, यद्यपि तन्तु ही पट है, मृत्तिका माँगने पर घट नहीं मिल सकता, यद्यपि मृत्तिका ही घट है और सुवर्ण माँगने पर आप कुण्डल नहीं पा सकते, यद्यपि सुवर्ण ही कुण्डल है। परन्तु सत्ता द्रव्य की ही होती है मिथ्या आकृतियों और नामों की नहीं, इसे मूर्ख भी जानता है। दीवाली में चीनी के हाथी, घोड़े और ऊँट बिकते हैं, परन्तु बच्चे भी उन्हें हाथी, घोड़े और ऊँट समझ कर नहीं खाते हैं, चीनी समझकर खाते हैं।

द्रव्य की सत्ता पारमार्थिक होने पर भी हमारा प्राप्य द्रव्य ही नहीं है, मिथ्या नाम और रूप भी हैं, क्योंकि उनमें व्यवहार-सम्पादन की विलक्षण क्षमता होती है। कंकण चाहने वाला सुवर्ण पाकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता है, और न घट चाहने वाला मृत्तिका से, क्योंकि द्रव्य पर्याय (विकार, रूप) के बिना मूलरूप में अनेक स्थलों पर कार्य-सम्पादन में अक्षय हो जाता है। हम मृत्तिका-पिण्ड में नहीं, घट में ही जल भर सकते हैं, तन्तु से नहीं पट से ही तन ढँकना संभव है। इस प्रकार व्यवहार-क्षेत्र में रूप की अपरिहार्यता निर्विवाद है।

मानव द्रव्य के अभाव में भी रूपमात्र से सन्तुष्ट हो जाता है। प्रवासी प्रणयी को व्यापक वियोग के व्यथाकुल क्षणों में प्रेयसी का मनोरम चित्र ही धीरज बँधाता है। काठ का घोड़ा घास नहीं खाता है, सवार को लेकर दौड़ भी नहीं सकता है, फिर भी कोई व्यक्ति ऐसा नहीं दिखाई देता है जिसने उसे मिथ्या समझ कर फेंक दिया हो। द्रव्य के अभाव में रूप का प्रेम विलक्षण है। बुद्ध और महावीर अब नहीं हैं, परन्तु उनकी पाषाण-प्रतिमाएँ विद्यमान हैं। उन प्रस्तर-प्रतिमाओं में बुद्ध और महावीर कहाँ हैं ? उन्हें तो निर्वाण और कैवल्य प्राप्त हो गया है। बुद्ध और महावीर तो सावयव थे, निरवयव ईश्वर की भी प्रतिमाएँ बनाई जाती हैं। ताश के पत्ते पर बादशाह के पास फौज नहीं रहती है, बीवी बच्चे नहीं देती और न गुलाम हुक्म ही बजाता है, फिर भी वे बादशाह बीवी और गुलाम हैं। जिसने मानव को पशुत्व से ऊपर उठाकर सभ्य बनाया है, जो आज तक विश्व के कोने-कोने में अखण्ड ज्ञानालोक प्रज्ज्वलित करती आई है, वह भाषा भी कोरे रूप के व्यामोह से मुक्त नहीं रह सकी। संसार की समस्त समुन्नत भाषालिपियाँ एक स्वर से जीवन में रूप की अनिवार्यता का उद्घोष कर रही हैं। रूपहीन ध्वनियाँ ही अक्षर या वर्ण हैं, परन्तु विभिन्न लिपियों में उन निराकार वर्णों की भी पृथक्-पृथक् कल्पित आकृतियाँ गढ़ ली गई हैं। विभिन्न भाषा-लिपियों में एक ही ध्वनि के पृथक्-पृथक् आकार मानव की कल्पनाप्रियता का परिचय देते हैं :—

देव नागरी	फारसी	रोमन	तमिल
ट	ط	T	ட
प	پ	P	ப

ये तो कुछ उदाहरण हैं। विश्व में बहुत सी भाषाएँ हैं और उनकी अनेक लिपियाँ हैं। ध्वनियो की आकृति के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद सबके मिथ्यात्व का प्रमाण है। परन्तु इन्हीं मिथ्या एवं कल्पित वर्णाकृतियों में वेद, त्रिपिटक, जैनागम, बाइबिल, कुरान प्रभृति प्रमाण ग्रन्थ लिखे गये

हैं। संख्या का भी कोई आकार नहीं है, वह केवल बुद्धि का विषय है। बुद्धिवादी गणितज्ञों ने विभिन्न लिपियों में उसे भी साकार बना कर छोड़ा है :—

देवनागरी	६	७	८	९
रोमन	6	7	8	9
फारसी	۶	۷	۸	۹

इन अमूर्त संख्याओं के साथ-साथ बहुत से अमूर्त गुणों और क्रियाओं की भी आकृतियाँ बनाई गई हैं—

संयोग	+	×
विभाग	−	÷
साम्य	=	

किसी सत् वस्तु का आकार बना लेना तो समझ में आता है, वास्तववादी गणितज्ञों ने असत् एवं अवस्तु रूप अभाव को भी वर्तुलाकार शून्य (०) की आकृति प्रदान की है। अर्थशास्त्र की एक पुस्तक में यह आकृति दी गई है :—



बताइये, अर्थशास्त्रियों के अतिरिक्त आयात और निर्यात का यह आकार क्या कभी किसी और को भी दिखाई देता है ? भौगोलिक मानचित्रों में देशों, मैदानों, पर्वतों, मरुस्थलों, समुद्रों, नदियों और रेलवे लाइनों को रेखाओं और वर्णों के माध्यम से पढ़ाया जाता है। वस्तुतः वहाँ उनमें से एक भी वस्तु नहीं रहती है। विज्ञान में भी रूपहीन गैसों और ऊर्जाओं को स्थूल चित्रों के द्वारा समझाने की परम्परा है।

इस प्रकार मानव में कृत्रिम रूपनिर्माण की प्रवृत्ति नैसर्गिक है। वह अपनी रचना में केवल मूर्त वस्तुओं के रूपों का अनुकरण ही नहीं करता, अपितु अवस्तु और अमूर्त सत्ताओं की भी काल्पनिक आकृतियाँ गढ़ लेता है। यही नहीं, अपनी इच्छा-शक्ति से किसी भी नामरूपमय द्रव्य का उससे भिन्न दूसरे द्रव्य से अभेद स्थापित करना भी मानव का स्वभावज गुण है। इस प्रक्रिया को जैनशास्त्रों में स्थापना कहते हैं। इसके लिये रूप साम्य अनिवार्य नहीं है, क्योंकि अमूर्त द्रव्यों की भी स्थापना मूर्त द्रव्यों के रूप में की जाती है। प्रायः अयथार्थ ज्ञान भ्रामक होता है, परन्तु स्थापना अयथार्थ होने पर भी भ्रम से भिन्न है। भ्रम में रज्जु की प्रतीति नहीं होती है, सर्प की ही प्रतीति होती है, परन्तु स्थापना में रज्जु की ही प्रतीति होती है, स्थापक उसे आग्रह पूर्वक सर्प मान लेता है। जैनों ने तत्त्वनिरूपण में स्थापना को आवश्यक निक्षेप माना है। स्थापन-प्रवृत्ति का उद्गम मनुष्य में शैशव से ही होता है। बहुधा छोटे बच्चे खेल में अपने आगे छोटी-छोटी पत्तियाँ रख लेते हैं और आपस में कहते हैं—'यह हमारा घोड़ा है, यह हमारा हाथी है और यह हमारा ऊँट है'। बालिकाओं में गुड़ियों और गुड्डों के विवाह का खेल प्रसिद्ध है। कभी-कभी एक बालक कूद कर

अपने साथी के कन्धे पर चढ़ जाता है और उसे हाथों या कोड़ों से मार-मार कहता है—'चल रे घोड़े, चल'। छोटा बालक खूब जानता है कि यह तो हमारा साथी है, घोड़ा नहीं है, फिर भी उस पर घोड़े का आरोप करके क्षण भर पुलकित हो जाता है। कबड्डी के खेल में आप ने देखा होगा, एक दल का खिलाड़ी जब अन्य दल के किसी खिलाड़ी को छू कर भाग आता है तब छुआ हुआ व्यक्ति मृत घोषित कर दिया जाता है। यद्यपि वह साँसें लेता है, चलता-फिरता है और बात-चीत भी करता रहता है, तथापि उस जीवित को व्यावहारिक रूप में मृतक मान लिया जाता है। यही बाल-प्रवृत्ति विकसित होकर जीवन के विविध क्षेत्रों में हमारी धार्मिक, शैक्षिक, साहित्यिक और राजनैतिक गतिविधियों को पूर्णतया प्रभावित करती रहती है। नदी, पर्वत, वृक्ष, नगर आदि में पवित्रता की स्थापना से तीर्थों का उदय होता है। मक्का, मदीना, येरुस्सलम, बोधिगया, पावा धाम, अयोध्या, मथुरा आदि हमारे पवित्र स्थान हैं। वस्तुतः ये स्थान भी अन्य स्थानों के समान नितान्त भौतिक हैं; इन्हें आध्यात्मिक पवित्रता स्थापना से मिली है। मुर्दे को लोग छूना भी पसन्द नहीं करते हैं। जो स्वयं मर गया है, वह दूसरे की मुराद क्या पूरी करेगा? परन्तु पीरों की हड्डियों पर बनी मजारों पर दुआएँ माँगने के लिए मेले लगते हैं, बड़ी-बड़ी मनौतियाँ मानी जाती हैं। 'संग असवद' पत्थर ही तो है, प्रत्येक हजयात्री उसे क्यों चूमता है? यह सब स्थापना के कारण होता है। स्थापना में विषयी और विषय—दोनों अमूर्त भी हो सकते हैं। निरर्थक ध्वनियों पर विविध अर्थों के आरोप इसके उदाहरण हैं। सीटी की ध्वनि अमूर्त है, उसके द्वारा अनेक अर्थ संकेतित होते हैं। कभी वह खेल के आरम्भ का अर्थ देती है तो कभी खेल के समापन का; और कभी दस्युओं का नायक आसन्न संकट की सूचना सीटी बजा कर देता है तो कभी ताली बजा कर। ये सभी सांकेतिक अर्थ समुदाय विशेष में पहले से स्थापित और आरोपित रहते हैं।

बीज गणित में जो धन नहीं है, उसे भी धन मान लेने की निम्नलिखित पद्धति प्रसिद्ध है—

"मान लिया मोहन के पास अ रुपये थे"।

यद्यपि अ किसी भी दशा में रुपया नहीं हो सकता है, वह केवल एक अक्षर है, परन्तु इस मिथ्या कल्पना के आधार पर बड़े-बड़े कठिन प्रश्न हल किये जाते हैं। भूगोल में एक बहुत बड़ा सफेद झूठ चलता है। आपने मानचित्रों के नीचे लिखा हुआ निम्नलिखित ढंग का पैमाना अवश्य देखा होगा—

१ मिली मीटर = १०० किलो मीटर

एक मिली मीटर एक सौ किलोमीटर के बराबर कभी नहीं हो सकता है, इसे एक मूर्ख भी जानता है तो क्या भूगोल के विद्वान् प्राध्यापक नहीं जानते होंगे? मैं समझता हूँ, वे असत्य से सत्य की ओर चल कर 'असतो मा सद् गमय' की वैदिक प्रार्थना को चरितार्थ करते हैं। सौ रुपये का नोट वस्तुतः काग़ज का छोटा सा टुकड़ा ही है, जिसका मूल्य कौड़ी के बराबर भी नहीं है, परन्तु स्थापना की शक्ति से उसी काग़ज के टुकड़े के बदले सौ रुपये के सामान मिल जाते हैं। स्थापना आहार्य बुद्धि का परिणाम है। मिथ्या होने पर भी उसकी उपेक्षा संभव नहीं है। दिशा को ही ले लीजिये, वह अपेक्षा-बुद्धि से उत्पन्न होती है। उसके अस्तित्व के लिये कम से कम दो वस्तुओं की सत्ता अनिवार्य होती है। हम जिसे पूर्व कहते हैं, उसे ही दूसरा पश्चिम कहता है, एक तीसरा उसी को उत्तर कहता है तो चौथा उसी को दक्षिण मानता है।

इस प्रकार दिशा की कोई निश्चित सीमा नहीं है। वह वस्तु सापेक्ष है, स्वतन्त्र नहीं; फिर भी इस अनिश्चित एवं असत् बुद्धि विकल्प की स्वीकृति के बिना व्यवहार-शृंखला की कई कड़ियाँ टूट जाती हैं। पारमार्थिक सत्ता की अन्ध श्रद्धा से विवेक-हीन होकर व्यावहारिक सत्ता की उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिये। स्थापना असत् होने पर भी व्यवहार में सत्य से कम महत्त्व नहीं रखती है। जैन शास्त्रों में सत्य के दस भेद उल्लिखित हैं, जिनमें नाम, रूप और स्थापना को भी व्यावहारिक रूप से सत्य स्वीकार किया गया है[1]।

जो वस्तु जिस रूप में नहीं है, किसी प्रयोजन से उसे उस रूप में मान लेना स्थापना है। है। इसके मूल में समष्टि और व्यष्टि—दोनों की इच्छायें संभव हैं। किसी द्रव्य की जिस भिन्न द्रव्य पर स्थापना की जाती है, वह उस द्रव्य का प्रतीक बन जाता है और उसमें व्यवहार-सम्पादन की अपूर्व शक्ति उत्पन्न हो जाती है। मंगल का कोई आकार नहीं है, फिर भी रसाल पल्लव, दधि, दूर्वा हरिद्रा, पुष्प, अक्षत, सिन्दूर, नैवेद्य, गोरोचन, कस्तूरी आदि मंगल प्रतीक हैं, क्योंकि उनमें मंगल स्थापना है। श्रद्धेय के गले में पुष्पमाला डाल देने पर उसे क्या मिल जाता है? उसकी अपेक्षा पेट भर लड्डू खिला देने पर अधिक तृप्ति संभव है। परन्तु नहीं, पुष्प हमारी श्रद्धा, भक्ति, पूजा, निष्ठा और प्रतिष्ठा का कोमल प्रतीक है। भले ही पुष्प-माला पहनने से पेट न भरे, परन्तु हृदय कृतज्ञता से अवश्य अभिभूत हो उठता है। पुष्पों में भी मंगल-स्थापना सर्वत्र नहीं है। कोंहड़ा, लौकी, बैगन और तरोई प्रभृति वनस्पतियों के पुष्पों को मांगल्य नहीं माना गया है। स्वस्तिक चिह्न और चतुष्क में कौन सा मंगल मूर्तिमान् होकर बैठा है परन्तु प्रत्येक शुभ कार्य में इनकी रचना की जाती है। काले झंडे का अर्थ किसी का अपमान नहीं है, लाल झंडी का अर्थ ट्रेन का रुकना नहीं है और हरी झंडी का अर्थ ट्रेन का चलना नहीं है, परन्तु काला झंडा दिखाने वालों पर लाठी चार्ज होता है, लाल झंडी दिखाने पर ट्रेन रुक जाती है और हरी झंडी दिखाने पर चलने लगती है। हम राष्ट्रध्वज को झुककर प्रणाम करते हैं। वह एक साधारण वस्त्र होने पर भी राष्ट्रीय ऐक्य और प्रतिष्ठा का प्रतीक है। प्राचीन काल में पंचायतों के पंचों के पास कौन सी सेना रहती थी? एक साधारण और निर्बल मनुष्य भी दण्डाधिकारी का प्रतीक बनकर जो भी दण्ड दे देता था, वही सबको स्वीकार्य होता था। रामलीला और नाटक में न तो सचमुच सीताहरण होता है और न राम विलाप ही करते हैं। हरण भी कल्पित है और विलाप भी कल्पित है, दर्शक इस तथ्य को जानता भी है, परन्तु उसकी आँखें सजल हो उठती हैं। यह है प्रतीक की महिमा। साहित्य में अन्योक्ति और रूपकातिशयोक्ति अलंकारों के आधार प्रतीक ही हैं। ऋग्वेद का 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' इत्यादि मन्त्र प्रतीकों की अपरिहार्यता का प्रमाण है। सुपर्ण पक्षी का अभिधान है और वृक्ष पेड़ का। मन्त्र में ये शब्द जीव, परमात्मा और जगत् के प्रत्यायक हैं। सन्त कबीर ने "साँच बराबर तप नही, झूठ बराबर पाप' कह कर सत्य को सर्वश्रेष्ठ तप और झूठ को सर्वश्रेष्ठ पाप घोषित किया था, परन्तु व्यवहार में असत् प्रतीकों की परिधि को वे भी नहीं लाँघ पाये—

१. दशविधः खलु सत्य सद्भावः—नाम-रूप-स्थापना-प्रतीत्य-संवृति-संयोजना-जनपद-देश-भाव-समयसत्यभेदेन।
षट्खण्डागम—(धवला) सन्तपरूवणानुयोगद्वार, १।१।२, पृ० ११७।

लगी समुन्दर आगि, नदियाँ जरि कोइला भईं।
कहै कबीरा जागि, मछली रूखें चढ़ि गईं॥

इस सोरठे में यथार्थ दृष्टि से बिल्कुल मिथ्या और असंभव बात कही गई है। समुद्र में आग कभी नहीं लग सकती है। यदि लग भी जाये तो उसी को जलायेगी। यहाँ तो आग लगी है समुद्र में और जलकर कोयला हो रही हैं नदियाँ। क्या नदियाँ कोई काष्ठ हैं जो जलकर कोयला हो जायेंगी; भाप भले हो जाये। इस पर भी आश्चर्य देखिये, जिस विचित्र आग ने समुद्र में लगकर नदियों को भी जला डाला, वही अपने ईंधन वृक्षों को बिल्कुल नहीं जला सकीं, तभी तो बची हुई मछलियां उन पर चढ़ गईं। प्रतीकों की शक्ति को स्वीकार किये बिना यह सोरठा उन्मत्त प्रलाप बन जायेगा।

जैसे मूल के कट जाने पर वृक्षों की हरियाली चली जाती है वैसे ही स्थापना समाप्त हो जाने पर प्रतीकों की शक्ति भी समाप्त हो जाती है। गाँव का एक साधारण व्यक्ति जिस स्थापना की शक्ति से कुछ दिनों के लिये राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री के रूप में महत्त्व एवं ऐश्वर्य का प्रतीक बन जाता है, उसी के अभाव में 'पुनर्मूषको भव' की लोकोक्ति को चरितार्थ करने लगता है।

जीवन में कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जहाँ नाम, रूप, स्थापना और प्रतीक का अधिकार न हो। किसी क्षेत्र में वे प्रतिषिद्ध नहीं हैं। कहीं भी उनके विरोध का स्वर नहीं सुनाई देता है। केवल उपासना में पता नहीं क्यों कुछ लोग प्रतीक (प्रतिमा) का विरोध करते हैं। आश्चर्य है, कल्पित नाम स्वीकार करने में किसी को भी आपत्ति नही है. निराकार वर्णों, गुणों, क्रियाओं और संख्याओं की कल्पित आकृतियाँ गढ़ लेने पर कोई पाप नहीं लगता है, गणित और भूगोल में असत्य बातों को कहते जिह्वा कट कर नहीं गिर जाती, मूल्यहीन कागज के टुकड़े को बहुमूल्य मान लेने पर भी बुद्धि का दिवाला नहीं निकलता, केवल आराध्य की प्रतिमा बना लेने पर हम अपराधी हो जाते हैं।

●

—हो० त्रि० इण्टर कालेज, टाँडा, फैजाबाद
(उ० प्र०)

दशरूपक और नाट्यदर्पण में रस-स्वरूप एवं निष्पत्ति : एक तुलनात्मक विवेचन

काज़ी अञ्जुम सैफ़ी

'मुञ्ज महीरा गोष्ठी वैदग्ध्य भाजा[1]' के उद्घोषकर्ता आचार्य धनञ्जय का दशरूपक और 'त्रैविध वेदिनो[2]' जैसे विशेषण के प्रयोगकर्त्ता जैनाचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र द्वारा सम्मिलितरूपेण विरचित नाट्यदर्पण भारतीय नाट्य परम्परा में आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र के पश्चात् अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। रस-स्वरूप एव निष्पत्ति के सम्बध में इन ग्रन्थों में प्रतिपादित विचार परम्परागत विचार-सरणि से पर्याप्त भिन्न प्रतीत होते हैं। अतः इनका अध्ययन ज्ञान और जिज्ञासा की दृष्टि से उपादेय प्रतीत होता है। दोनों ग्रन्थकारों के मन्तव्यों के पूर्ण स्पष्टीकरण और उनके प्रति न्याय की दृष्टि से यह आवश्यक तथा उचित प्रतीत होता है कि प्रथम उनके मन्तव्यों को पृथक्-पृथक् कर तत्पश्चात् उनका पारस्परिक तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया जाये।

दशरूपक में रस-स्वरूप एवं निष्पत्ति :—धनञ्जय दशरूपक के चतुर्थ प्रकाश में रस-विषयक विवेचन करते हैं। उनके अनुसार सामाजिक के चित्त में स्थित 'रति' आदि भाव ही 'विभाव' आदि के माध्यम से आस्वाद्य होकर श्रृंगार आदि रस-रूप को प्राप्त होते हैं'[3]। उनका मन्तव्य है कि रस वाक्यार्थरूप होता है। जिस प्रकार वाच्य अथवा प्रकरण आदि के द्वारा बुद्धिस्थ क्रिया ही कारकों से अन्वित होकर वाक्यार्थ होती है, उसी प्रकार 'विभाव' आदि से युक्त होकर 'स्थायी भाव' भी वाक्यार्थरूप होता है[4]।

वैयाकरणों के अनुसार वाक्य में क्रिया की प्रधानता होती है क्योंकि कारकों से युक्त क्रिया ही वाक्यार्थ का आधार होती है। श्रोता अथवा पाठक को क्रिया-ज्ञान दो प्रकार से सम्भव है—प्रथम, इसके प्रत्यक्षरूपेण शब्दशः कथन द्वारा। यथा—'गामभ्याज' आदि वाक्य में 'अभ्याज' के रूप में क्रियापद का शब्दशः कथन किया गया है। द्वितीय, श्रोता अथवा पाठक प्रस्तुत प्रकरण आदि के आधार पर क्रियापद का स्वयं अध्याहार कर लेता है। यथा—द्वारं द्वारम्' आदि वाक्यों में प्रकरण के अनुरूप 'पिधेहि' आदि उपयुक्त क्रिया का स्वयं अध्याहार कर लिया जाता है[5]।

---

१. आविष्कृतं मुञ्जमहीरा गोष्ठी वैदग्ध्य भाजा दशरूपमेतत्। ४।८६ दश०।

२. त्रैविधवेदिनोऽप्यस्मै ततो नित्यं कृतस्पृहाः ॥ ना० द० का प्रारम्भिक श्लोकांश।

३ विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः ॥ ४।१ दश०।

४. वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायीभावस्तथेतरैः ॥ ४।३७ पूर्वोक्त।

५. धनिक-वृत्ति (दश०) पृ० ३३३।

उपर्युक्त लौकिक उदाहरण के सदृश ऐसी ही व्यवस्था काव्य में भी होती है। उसमें भी कहीं 'प्रोत्यै नवोदा प्रिया.....' आदि के समान स्वशब्दोपादानपूर्वक 'रति' आदि स्थायी भावों का प्रत्यक्षतः कथन कर दिया जाता है। कहीं स्थायीभाववाचक शब्दों का प्रयोग न करके भी अप्रत्यक्षरूपेण उसका कथन कर दिया जाता है। स्थायीभाव का परोक्ष रूप में कथन भी दो रूपों में सम्भव है। कहीं प्रकरण आदि के द्वारा श्रोता अथवा पाठक को इसका ज्ञान हो जाता है और कहीं अविनाभाव रूप में सम्बद्ध 'विभाव' आदि के कथन से यह ज्ञात हो जाता है, क्योंकि सहृदय सामाजिक इस तथ्य से पूर्णतः भिज्ञ होता है कि अमुक 'विशिष्ट विभाग' अमुक स्थायीभाव के साथ निश्चित रूप से रहते हैं। उपर्युक्त किसी भी रूप से ज्ञात 'स्थायीभाव' काव्य में वर्णित विविध 'विभाव' आदि से परिपुष्ट होकर 'रस' कहा जाता है[१]।

अतः स्पष्ट है कि धनञ्जय के अनुसार लौकिक वाक्य, वाक्यार्थ और 'विभाव' आदि एवं 'रस' में पूर्ण साम्य है। वाक्य में स्थित 'रति' आदि क्रियापद-स्थानीय हैं, 'विभाव' आदि कारकपद-स्थानीय हैं और 'रस' वाक्यार्थ रूप है। इससे यह तथ्य भी स्पष्टरूपेण ध्वनित हो जाता है कि धनञ्जय रस एवं काव्य में व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करते हैं तथा रस-निष्पत्ति के प्रसङ्ग में व्यञ्जनावृत्ति भी उनको अस्वीकार्य ही है।

वस्तुतः कुमारिलभट्ट के समर्थक मीमांसकों के अनुसार पदार्थ और वाक्यार्थ परस्पर भिन्न वस्तुए हैं, क्योंकि वाक्यार्थ वाक्य में स्थित विविध पदों के अर्थों का समूह मात्र न होकर उससे सर्वथा भिन्न एवं नवीन वस्तु है। वाक्य में स्थित पद अभिधा आदि के माध्यम से परस्पर असम्बद्ध रूप में अपने अर्थों का बोधमात्र करा देते हैं, क्योंकि वे स्वार्थ बोध-मात्र की सामर्थ्य से युक्त होते हैं। अर्थों के परस्पर अन्वय की सामर्थ्य का उनमें अभाव होता है। बाद में परस्पर असम्बद्ध रूप में अभिहित इन अर्थों का तात्पर्यवृत्ति के द्वारा वाक्यार्थ के रूप में परस्पर अन्वय अथवा संसर्ग होता है। अतः भाट्टमीमांसकों के अनुसार वाक्यार्थ-बोध तात्पर्यवृत्ति द्वारा ही सम्भव है।

धनञ्जय जब रस को वाक्यार्थ-स्थानीय कहते हैं, तब अप्रत्यक्ष रूपेण उनका यही मन्तव्य प्रकट होता है कि रस तात्पर्यवृत्ति का विषय है, व्यञ्जनावृत्ति का नहीं।

धनञ्जय के व्याख्याकार धनिक के अनुसार यहाँ इस शङ्का के लिये कोई स्थान नहीं है कि जब विभाव आदि पदार्थ ही नहीं हैं, तब रस किस प्रकार वाक्यार्थ हो सकता है, क्योंकि तात्पर्य-शक्ति का पर्यवसान कार्य में होता है[२] पौरुषेय और अपौरुषेय समस्त वाक्य कार्यपरक ही होते हैं। कार्य के अभाव में उन्मत्त व्यक्ति के वाक्य के सदृश इनकी अनुपादेयता स्वयंसिद्ध ही है। काव्य-शब्दों की प्रवृत्ति का विषय विभाव आदि हैं और इनका प्रयोजन निरतिशय सुखास्वाद है। यह अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर ज्ञात होता है। विभाव आदि से संश्लिष्ट स्थायी भाव की इस अलौकिक सुखास्वाद में निमित्तभूतता होती है। अतः तात्पर्यशक्ति का पर्यवसान काव्य-शब्दों के प्रयोजन रूप अलौकिक आनन्दानुभूति अर्थात् विविध रसों में होता है। रसानुभूति की इस प्रक्रिया में

१. पूर्वोक्त पृ० ३३३-३३४।

२. न चाऽपदार्थस्य वाक्यार्थत्वं नास्तीति वाच्यम्। कार्यपर्यवसायित्वात्तात्पर्यशक्तेः। धनिक-वृत्ति (दश०) पृ० ३३४।

'विभाव' आदि पदार्थ स्थानीय हैं और उनसे संसृष्ट 'रति' आदि स्थायीभाव वाक्यार्थ स्थानीय। अतः यह 'विभाव' आदि काव्य-वाक्य के पदार्थ और वाक्यार्थ ही हैं।[1]

काव्यार्थ के साथ सम्भेद के कारण आत्मानन्द से उत्पन्न स्वाद ही रस कहलाता है।[2] कवि काव्य-शब्दों के माध्यम से राम आदि के व्यक्तिगत वैशिष्टय का वर्णन नहीं करता, अपितु निजी विशेषताओं से रहित उनकी उदात्त आदि अवस्थाओं का कथन ही उसको अभिप्रेत होता है। अतः राम आदि सामान्य आश्रय मात्र होते हैं। भूतकालिक राम आदि से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता है, क्योंकि काव्य में अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं का परित्याग कर वह सामान्य रूप में ही उपस्थित होते हैं। कवि सामान्य आश्रय के रूप में इतिहास आदि को आधार बनाकर अपनी उर्वरा कल्पना-शक्ति से उनके भावों एवं कार्यों की उद्‌भावना कर चरित्र-चित्रण कर देता है।

'रति' आदि भाव रसिक के चित्त में वासनारूप में स्थित होते हैं। राम एवं सीता आदि के रूप में काव्यगत विभाव आदि 'रति' आदि को भावित कर देते हैं और तब रसिक स्वगत स्थायी-भाव आदि का ही रसके रूप में आस्वादन करता है[3]। अतः धनञ्जय के अनुसार रस एवं काव्य में भाव्य-भावक सम्बन्ध होता है, वाङ्ग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्ध नहीं। वह स्वयं रस-स्वरूप एवं प्रक्रिया का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि विभाव, सञ्चारो एवं अनुभाव नामक ग्रन्थ क्रमशः चन्द्रमा, निर्वद एवं रोमाञ्च आदि पदार्थों के द्वारा भावित स्थायीभाव ही 'रस' है और उसका ही रसिक के द्वारा आस्वादन किया जाता है[4]।

धनञ्जय इस आस्वादन का स्पष्टीकरण लौकिक उदाहरण के द्वारा करते हैं। उनके अनुसार जिस प्रकार मिट्टी से निर्मित निर्जीव हाथी आदि के साथ क्रोडारत बालक अपने ही 'उत्साह' का आस्वादन करता है, उसी प्रकार श्रोता आदि भी अर्जुन आदि पात्रों के माध्यम से स्वस्थ 'उत्साह' आदि स्थायी भाव का ही आस्वादन करता है[5]।

धनञ्जय के अनुसार आत्मानन्द से समुद्‌भूत रस की चार अवस्थाएँ होती हैं—चित्त का विकास, विस्तार, क्षोभ एवं विक्षेप। यह चित्त-विकास आदि क्रमशः शृङ्गार, वीर, बीभत्स एवं रौद्र रसों में होता है। यही अवस्थाएँ क्रमशः हास्य, अद्‌भुत, भयानक एवं करुण रसों में भी होती

१. पूर्वोक्त पृ० ३३४-३३५।

२. स्वादः काव्यार्थ सम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः। ४।४३ दश०।

३. धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादिः प्रतिपादकः।
विभावयतिरत्यादीन्स्वदन्तेरसिकस्य ते ॥
ता एव च परित्यक्तविशेषा रस हेतवः। ४।४०-४१, दश०।

४ पदार्थैरिन्दुनिर्वेद रोमाञ्चादिस्वरूपकैः।
काव्याद्विभावसञ्चार्यनुभाव प्रख्यतां गतैः ॥
भावितः स्वदते स्थायी रसः स परिकीर्तितः ॥ ४।४६,४७ पूर्वोक्त।

५. क्रीडतां मृन्मयैर्यद्वद् बालानां द्विरदादिभिः ॥
स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोतृणामर्जुनादिभिः। ४।४१-४२ पूर्वोक्त।

हैं। इसी कारण हास्य आदि को क्रमशः शृङ्गार आदि से उत्पन्न कह दिया जाता है[१]। वस्तुतः चित्त-सम्भेद की अपेक्षा से ही यहाँ शृङ्गार आदि को हेतु तथा हास्य आदि को हेतुमान कहा गया है, कार्य-कारण-भाव के अभिप्राय से नहीं[२]।

नाट्यदर्पण में रस-स्वरूप एवं निष्पत्तिः—आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने विभाव एवं व्यभिचारी भावों के द्वारा पूर्ण उत्कर्ष प्राप्त और स्पष्ट अनुभावों द्वारा निश्चित स्थायी-भाव को सुख-दुःखात्मक रस कहा है। स्थायी भाव के लोक-सिद्ध कार्य, हेतु और सञ्चारियों को काव्य में क्रमशः अनुभाव, विभाव, और व्यभिचारी कहा जाता है।[३] काव्य में परस्थ रस की प्रतिपत्ति होती है और यह चित्तधर्म रूप होने एवं चित्तधर्म के अतीन्द्रिय होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होती है। अतः परस्थ रस की यह परोक्ष प्रतीति उसके नान्तरीयक अर्थात् अविनाभूत कार्यरूप अनुभावों के माध्यम से ही होती है।[४]

रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार सामाजिकों के मनोरञ्जन के लिये अनुकार्यगत विभाव आदि के अनुकरण में प्रवृत्त नट में रसाभाव होने पर भी स्तम्भ आदि अनुभावों की प्राप्तिवश यह आशङ्का व्यर्थ है कि यह रस के नान्तरीयक नहीं होते। वस्तुतः नटगत अनुभाव सामाजिकस्थ रस के जनक होने से उसके कारण ही होते हैं, कार्य नहीं। सामाजिकगत अनुभावों को ही तद्गत रस का बोधक होने से कार्य कहा जायेगा।[५]

वास्तव में लौकिक जीवन में स्त्री, पुरुष एवं नट और काव्यगत रोमाञ्च आदि अनुभाव सामाजिक में रस के जनक होने से विभाव ही होते हैं तथा इसके विपरीत प्रेक्षक, श्रोता एवं अनुसन्धाता में स्थित होने पर इनको अनुभाव ही कहा जायेगा, क्योंकि तब यह प्रेक्षक आदि में स्थित रस के नान्तरीयक होंगे।[६]

रस-परिभाषा के अवसर पर कथित 'व्यभिचारी' शब्द से रामचन्द्र-गुणचन्द्र का आशय सामाजिकगत व्यभिचारी भावों से है, अनुकार्य या अनुकर्तागत व्यभिचारियों से नहीं।[७] रस के

१. पूर्वोक्त ४।४३-४५।

२. हेतु हेतुमद्भाव एव सम्भेदापेक्षा दर्शितो न कार्यकारणभावाभिप्रायेण तेषां कारणान्तरजन्यत्वात्। धनिक-वृत्ति (दश०) पृ० ३४९।

३. ना० द० ३।८।

४. इह तावत् सर्वलोक प्रसिद्धा परस्थस्य रसस्य प्रतिपत्तिः। सा च न प्रत्यक्षा, चेतोधर्माणामतीन्द्रियत्वात्, तस्मात् परोक्षा एव। परोक्षा च प्रतिपत्तिरविनाभूताद् वस्त्वन्तरात्। अत्र च रसे अन्यस्य वस्त्वन्तरस्या-सम्भवात् कार्यमेवाविना कृतम्। विवृत्ति, ना० द० पृ० १४२।

५. परगत विभावाद्यनुक्रियायां च पररञ्जनार्थं प्रवृत्तस्य नटस्य रसाभावेऽपि स्तम्भस्वेदादयो भवन्तीति। नैषां रसान्तरीयकत्वमाशङ्कनीयम्। तेषां परगत रसजनकत्वेनाकार्यत्वात्, नटगता हि स्तम्भादयो प्रेक्षकगतरसानां कारणम्, प्रेक्षकगतास्तु कार्याणि। पूर्वोक्त पृ० १४२।

६. रोमाञ्चादयश्च ये स्त्री-पुंस-नट-काव्यस्थास्ते परेषां रसजनकत्वात् विभावमध्यवर्तिनः। प्रेक्षकश्रोत्रनुसन्धात्रादि स्थितास्तु रसस्य कार्याणि सन्तो व्यवस्थापकाः। विवृत्ति, पूर्वोक्त पृ० १४२।

७. अत्र च रत्यादेर्विभावैराविर्भूतस्य पोषकारिणो व्यभिचारिणो रसिकगता एव ग्राह्याः। पूर्वोक्त पृ० १४३।

पोषक इन व्यभिचारीभावों के अभाव में रसास्वाद असम्भव है। नाट्यदर्पण के अनुसार स्त्री-चिन्ता-रूप व्यभिचारी के अभाव में शृङ्गार, धृति के अभाव में हास्य, विषाद के अभाव में करुण, अमर्ष के अभाव में रौद्र, हर्ष के अभाव में वीर, त्रास के अभाव में भय, शङ्का के अभाव में बीभत्स, औत्सुक्य के अभाव अद्भुत और निर्वेद के अभाव में शान्त रस का प्रादुर्भाव असम्भव है। अन्यत्र अथवा विरक्त चित्त वाले व्यक्ति को वाक्यार्थ-बोध अथवा स्त्री आदि के दर्शन होने पर भी इनके अभाव में रसास्वाद नहीं होता है। इनके अत्यन्त सूक्ष्म अथवा शीघ्रतापूर्वक घटित होने के कारण ही इनका यत्र-तत्र अभाव-सा दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः अनुकार्य एवं अनुकर्तागत व्यभिचारी तो सामाजिक के रसोद्बोधन में हेतुभूत होने से विभाव ही स्वीकार किये जायेंगे।[१]

रामचन्द्र-गुणचन्द्र रस की द्विविध स्थिति को स्वीकार करते हैं—प्रथम, लोकगत रस और द्वितीय, काव्यगत रस। नियत विषयत्व और सामान्य विषयत्व भेद से यह लौकिक रसास्वाद पुनः दो प्रकार का होता है। नियत विषयत्व आस्वाद व्यक्तिविशेष तक सीमित होता है, क्योंकि इसमें लोक में वास्तविक रूप में स्थित सीता एवं राम आदि विभाव व्यक्तिविशेष में ही स्थित 'रति' आदि रूप स्थायीभाव को ही रसरूप में परिपुष्ट करते हैं। जब इन विभावों के द्वारा सामान्य रूप में अनेक व्यक्तियों के 'रति' आदि स्थायीभावों का रसरूप में पोषण होता है, तब यह रसास्वाद व्यक्ति विशेष से सम्बद्ध न होने के कारण सामान्य विषयत्व कहलाता है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार युवक के द्वारा रागवती युवती का आश्रय लेकर तत्सम्बद्ध अपनी 'रति' का शृङ्गार' के रूप में आस्वादन नियताविषयत्व है तो दूसरे में अनुरक्त वनिता का आश्रय लेकर सामान्य विषय 'रति' का उपचय सामान्य विषयत्व है। इसी प्रकार बन्धु शोक से खिन्न एवं रोती हुई युवती को देखकर सामान्य विषयक करुण रसास्वाद ही होता है। उनका स्पष्ट विचार है कि अन्य रसों के सम्बन्ध में भी विशेष एवं सामान्य विषयत्व द्रष्टव्य है।[२]

काव्यगत रस विशेष और सामान्य विषय-विभाग से रहित होता है। काव्य के द्वारा मात्र सामान्य रूप में रसोद्बोध होता है; क्योंकि काव्य एवं अभिनय के द्वारा अविद्यमान होने पर भी विद्यमान के सदृश प्रतीत कराये गये 'विभाव' श्रोता, अनुसन्धाता और प्रेक्षक के 'स्थायीभाव' को सामान्यरूपेण ही रसरूप में उद्बुद्ध करते हैं।[३]

नियत विषयत्व और सामान्य विषयत्व के अतिरिक्त रामचन्द्र-गुणचन्द्र लोकगत और काव्यगत रस की दो अन्य विशेषताओं का भी उल्लेख करते हैं। उनके अनुसार लोकगत रस स्वगत और

१. विवृत्ति, ना० द० पृ० १४३।

२. यत्र विभावाः परमार्थेन सन्तः प्रतिनियत विषयमेव स्थायिनं रसत्वमापादयन्ति। तत्र नियत विषयोल्लेखी रसास्वाद प्रत्ययः। युवा हि रागवतीं युवतिमवलम्ब्य तद्विषयामेव रतिं शृङ्गारतयाऽऽस्वादयति। यत्र तु परानुरक्तां वनितामवलम्ब्य सामान्यविषया रतिरूपचयमुपैति, तत्र न नियतविषयः शृङ्गाररसास्वादः, विभावानां सामान्यविषये स्थाय्यानिर्भाविकत्वात्। बन्धुशोकार्ता च रूदतीं स्त्रियमवलोक्य सामान्यविषय एव करुणरसास्वादः। एवमन्येष्वपि रसेषु विशेष-सामान्यविषयत्वं द्रष्टव्यम्। पूर्वोक्त पृ० १४२।

३. ये पुनरपरमार्थसन्तोऽपि काव्याभिनयाभ्यां सन्त इवोपनीता विभावास्ते श्रोत्रनुसन्धातृप्रेक्षकाणां सामान्य-विषयमेव स्थायिनं रसत्वमापादयन्ति। अत्र च विषयविभागानपेक्षी रसास्वाद प्रत्ययः। पूर्वोक्त पृ० १४२-१४३।

प्रत्यक्ष होता है तथा काव्यगत रस परगत और परोक्ष होता है।[1] वस्तुतः नाट्यदर्पण का प्रस्तुत स्थल किञ्चित् अस्पष्ट-सा है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र यहाँ लोक, नट, काव्य के श्रोता, अनुसन्धाता और प्रेक्षक के रूप में रस के ५ आधारों का उल्लेख कर उनकी स्व-परता और प्रत्यक्ष-परोक्षता का निर्देश करते हैं। दोनों के मध्य स्पष्ट विभाजन उनके द्वारा नहीं किया गया। आचार्य विश्वेश्वर इनमें प्रथम ४ के रसास्वाद को स्वगत एवं प्रत्यक्ष कहते हैं तथा अन्तिम 'प्रेक्षक' को द्वितीय वर्ग में रखते हैं।[2] डॉ० रमाकान्त त्रिपाठी ने भी आचार्य विश्वेश्वर का ही अनुसरण किया है।[3] वस्तुतः उनका यह दृष्टिकोण अनुचित प्रतीत होता है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र का अभिप्राय यहाँ लोकगत और काव्यगत रसास्वाद है। डॉ० ऋषि कुमार चतुर्वेदी का भी यही दृष्टिकोण है।[4]

तृतीय विशेषता के अनुसार लोकगत रस स्पष्ट तथा काव्यगत रस ध्यामल (अस्पष्ट) होता है। लोक में स्त्री-पुरुष आदि विभावों के वास्तविक एवं स्पष्ट होने के कारण रस एवं उससे उत्पन्न अनुभाव और व्यभिचारी भाव भी स्पष्ट होते हैं। काव्य में प्रदर्शित विभावों के अवास्तविक होने के कारण रस के सदृश ही व्यभिचारी एवं अनुभाव भी अस्पष्ट होते हैं और इस अस्पष्टता के आधार पर ही प्रेक्षक आदिगत रस लोकोत्तर कहा जाता है।[5]

अब प्रश्न उठता है कि सामाजिक को रसास्वाद किस प्रकार होता है? रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार अनुकर्ता द्वारा अनुकार्य को न देखे जाने पर भी कवि-निबद्ध राम आदि के चरित्र को पढ़कर एवं अत्यन्त अभ्यास के द्वारा स्वयं देखा-सा स्वीकार करके अभिनय के समय नट को यह अध्यवसाय हो जाता है कि स्वयं साक्षात् दृष्ट राम आदि का अनुमान कर मैं अनुकरण कर रहा हूँ। वस्तुतः अनुकर्ता राम का नहीं अपितु लोक-व्यवहार का अनुकरण करता है; क्योंकि स्वयं प्रसन्न होने पर भी राम आदि के रोने पर वह रोता है और स्वयं खिन्न होने पर भी राम आदि के प्रसन्न होने पर वह प्रसन्न होता एवं हँसता है।[6]

प्रेक्षक भी राम आदि विषयक शब्द-संकेतों के श्रवण और अत्यन्त हृदय संगीत के कारण विवश हो जाता है तथा स्वरूप, देश एवं काल का भेद होने एवं अनुकर्ता के अनुकार्य न होने पर

१. तदेवं स्व-परयोः प्रत्यक्ष-परोक्षाभ्यां गमः सुख-दुःखात्मा लोकस्य नटस्य काव्यश्रोत्रनुसन्धात्रोः प्रेक्षकस्य च रसः। पूर्वोक्त पृ० १४३।

२. हि० ना० द० पृ० ३०१।

३. संस्कृत-नाट्य-सिद्धान्त पृ० १५६।

४. रस-सिद्धान्त, डॉ० ऋषि कुमार चतुर्वेदी, पृ० १२४।

५. केवलं मुख्यस्त्री-पुंसयोः स्पष्टेनैव रूपेण रसो विभावानां परमार्थसत्त्वादत एव व्यभिचारिणोऽनुभावाश्च रसजन्याः तत्र स्पष्टरूपाः। अन्यत्र तु प्रेक्षकादौ ध्यामलेनैव रूपेण विभावानाम परमार्थसतामेव काव्यादिना दर्शनात्। अतएव व्यभिचारिणोऽनुभावाश्च रसानुसारेणास्पष्टा एव। अतएव प्रेक्षकादिगतो रसो लोकोत्तर इत्युच्यते।.......विवृति, ना० द० पृ० १४३।

६. रामादेरनुकार्यस्य नटेन प्रेक्षकैर्वा स्वयमदृष्टत्वात्। अनुकर्ता ह्यनुकार्यमदृष्ट्वा नानु कर्तुमलम्। प्रेक्षकोऽपि चादृष्टानुकार्यो नानु कर्तुरनुकर्तृत्वमनुमन्यते। तद्यं नटो रामादेश्चरितं कविनिबद्धमधीत्यात्यन्ताभ्यासवशतः स्वयं दृष्टमनुमन्यमानोऽनुकरोमीत्यध्यवस्यति, परमार्थस्तु लोकव्यवहारमेवायमनुवर्तते। प्रहृष्टोऽपि हि रामेण रुदिते रोदिति, न तु हसति। विषण्णोऽपि च हसिते हसति न तु रोदितीत्यादि। पूर्वोक्त पृ० १६७।

भी आंगिक आदि चतुर्विध अभिनय के कारण मूल स्वरूप के आच्छादित हो जाने से तथाभूत-से अनुकर्ता में अनुकारी राम आदि का अध्यवसाय कर लेता है। इस अध्यवसाय के कारण ही वह राम आदि की सुख-दुःखात्मक अवस्थाओं में तन्मय हो जाता है।[1]

कवि त्रिकालदर्शी ऋषियों के ज्ञान के द्वारा निश्चयपूर्वक राम आदि का नाटक आदि में निबन्धन करते हैं। मुनियों के प्रति विश्वास के कारण सामान्यजन कवि-निबन्धित उन चरित्रों में भी विश्वास कर लेते हैं। अतः प्रेक्षकों द्वारा कवि निबद्ध रूप में नट का दर्शन साक्षात् अनुकार्य राम आदि का दर्शन ही होता है। वस्तुतः वस्तु-स्वरूप के सम्बन्ध में चर्म-चक्षुओं से देखने वाले सामान्य जन तो भ्रान्त हो सकते हैं, ज्ञान-दृशा ऋषि नहीं। इसलिये साक्षात् दर्शन से भी अधिक जाने गये मुनि-ज्ञान द्वारा दृष्ट अर्थ का वास्तविक रूप में अनुकरण करने वाले नट का निराकरण करने में दुर्विदग्ध बुद्धि प्रेक्षक असमर्थ होते हैं। उन्होंने राम आदि को देखा हो अथवा न देखा हो, परन्तु नट में उन्हें रामादि का अध्यवसाय हो ही जाता है। इसके विपरीत रामादि की अवास्तविकता का ज्ञान होने पर वह रामादि की सुख-दुःख पूर्ण अवस्थाओं में तन्मय नहीं हो सकते हैं। नट में राम आदि का अध्यवसाय रूप भ्रान्ति से भी प्रेक्षक में शृङ्गार आदि रसों का उन्मेष होता है; क्योंकि स्वप्न में कामिनी, वैरी एवं चोर आदि को देखने वाले एवं रस के चर्मोत्कर्ष को प्राप्त पुरुष में भी स्तम्भ आदि अनुभाव देखे जाते हैं। अतः प्रेक्षक की रसानुभूति में इस तर्क को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।[2]

काव्य में वर्णित सीता के प्रति राम के शृङ्गार का नट द्वारा अनुकरण किये जाने पर सामाजिकों में सीता विषयक शृङ्गार का समुल्लास नहीं होता है। काव्य में सीता आदि के द्वारा अपने विशिष्ट स्वरूप का परित्याग कर दिये जाने के कारण सामाजिकों को यह रसास्वाद सामान्य स्त्री विषयक ही होता है। काव्य की यह प्रकृति लोक से सर्वथा भिन्न है। काव्य के सदृश लोक में भी यदि सीता आदि विभाव विद्यमान न हों तब भी एतद्विषयक स्मृति के आधार पर नियत-विषयक रसास्वाद ही होता है, सामान्य विषयक नहीं। सामान्य रूप में होने वाला यह रसास्वाद परस्पर बाधक नहीं होता है।[3]

परस्पर तुलना और आलोचना :—धनञ्जय मूलतः रस-प्रक्रिया का व्याख्यान करते हैं और इसी प्रवाह में यत्र-तत्र प्रयुक्त शब्दों के माध्यम से अप्रत्यक्षरूपेण उनके रसस्वरूप विषयक दृष्टिकोण का भी किञ्चित् आभास हो जाता है। इसके विपरीत रामचन्द्र-गुणचन्द्र रस-स्वरूप एवं प्रक्रिया

१. प्रेक्षकोऽपि रामादिशब्दसंकेत श्रवणादति हृदयसंगीतकाहितवैवश्याच्च स्वरूप-देश-कालभेदेन तथाभूतेष्वप्यभिनय चतुष्ट्याच्छादनात् तथाभूतेष्विव नटेषु रामादीनाध्यवस्यति। अतएव तासु-तासु सुख-दुःखरूपासु रामाद्यवस्थासु तन्मयो भवति। पूर्वोक्त पृ० १६७।

२. विवृत्ति, ना० द० पृ० १६७-६८।

३. न हि रामस्य सीतायां शृङ्गारेऽनुक्रियमाणे सामाजिकस्य सीताविषयः शृङ्गारः समुल्लसति, अपितु सामान्यस्त्रीविषयः। नियतविषयस्मरणादिना स्थायिनः प्रतिनियत विषयतायां तु प्रतिनियतविषय एव रसास्वादः। तथा परमार्थसतामभिनयकाव्यार्पितानां न विभावानां बहुसाधारणत्वाद् य एकस्य रसास्वादः सोऽन्याप्रतिक्षेपात्मेत्ययोगव्यवच्छेदेन, न पुनरन्ययोगं व्यवच्छेदेन। पूर्वोक्त पृ० १४३।

दोनों का निरूपण करते हैं। वास्तव में रस-निष्पत्ति की अपेक्षा रस-स्वरूप का उन्होंने अधिक सविस्तार विवेचन किया है। तथ्यात्मक दृष्टि से धनञ्जय और रामचन्द्र-गुणचन्द्र की रस-विषयक अवधारणाओं में साम्य की अपेक्षा वैषम्य अधिक दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि परवर्ती आचार्यों और वर्तमान आलोचकों द्वारा भी किसी सम्पूर्ण विचारधारा को आधिकारिक रूप में स्वीकृति प्राप्त नहीं हो सकी, तथापि मुख्यतः रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने परम्परा से भिन्न अनेक नवीन तथ्यों का उन्मेष किया।

धनञ्जय और रामचन्द्र-गुणचन्द्र की यदि रसविषयक अवधारणाओं का विहङ्गावलोकन किया जाये तो स्पष्टतः दोनों दो भिन्न पृष्ठभूमियों पर आधारित प्रतीत होती हैं और तात्त्विक रूप में यही पृष्ठभूमियाँ उनमें दृष्टिगत अन्य विभिन्नताओं के मूल में सक्रिय रही हैं। धनञ्जय का रस-विवेचन दार्शनिकता से अनुप्राणित रहा है और इसके विपरीत रामचन्द्र-गुणचन्द्र की रस विषयक सम्पूर्ण विचारधारा लौकिक धरातल पर आधारित है। उन्होंने यद्यपि रस की लोकोत्तरता का कथन अवश्य किया है, तथापि यह लोकोत्तरता दार्शनिक लोकोत्तरता से पूर्णरूपेण भिन्न एवं पृथक् है। वे धनञ्जय की समस्त रसों की सुखात्मकता की मान्यता की भी कटु आलोचना करते हैं। धनञ्जय सम्मत रस की वाक्यार्थरूप सत्ता भी उनको अभिप्रेत नहीं है। इसी प्रकार रसों की सुख-दुःखात्मकता, रस का लोकगत एवं काव्यगत तथा नियत-विषयत्व एवं अनियत विषयत्व के रूप में इनका पुनर्विभाजन और लोकगत रस की स्वगतता एवं प्रत्यक्षता तथा काव्यगत रस की परगतता, परोक्षता एवं ध्यामलता आदि रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनेक मन्तव्य धनञ्जय और उनके दशरूपक की मूल प्रकृति के विपरीत प्रतीत होते हैं।

धनञ्जय का रस-विवेचन दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित है। उनके द्वारा भावकत्व व्यापार की स्वीकृति और आत्मानन्द से उत्पन्न स्वाद के रूप में रस का निर्देश इस तथ्य को पुष्ट करते हैं। अभिहितान्वयवादी मीमांसकों के सदृश वह भी तात्पर्याख्या वृत्ति को स्वीकार करते हैं। रस-सूत्र को दर्शन के आधार पर व्याख्यायित करने का सर्वप्रथम प्रयास भट्ट नायक के दृष्टिकोण में परिलक्षित होता है तथा इसकी पराकाष्ठा शैवाद्वैतवादी अभिनवगुप्त के विचारों में। अभिनवगुप्त और धनञ्जय का व्यक्तित्व लगभग समकालिक है। अतः उनके रस-विषयक विचारों में दार्शनिकता के सम्मिश्रण को तात्कालिक प्रवृत्ति का ही द्योतक कहा जा सकता है। सम्पूर्ण नाट्यशास्त्रीय परम्परा में मात्र रामचन्द्र-गुणचन्द्र ही ऐसे एकांकी विद्वान् रहे हैं, जिन्होंने रस के इस परम्परागत एवं सर्वमान्य दार्शनिक आवरण को छिन्न-भिन्न कर उसको व्यावहारिक एवं लौकिक धरातल से सम्बद्ध करने का अपूर्व साहसिक एवं श्लाघ्य प्रयास किया।

वस्तुतः यदि नाट्यशास्त्र की भट्ट लोल्लट प्रभृति कृत परवर्ती व्याख्याओं पर दृष्टिपात किया जाये तो हम धनञ्जय की रस से सम्बद्ध अवधारणा को भट्ट नायक की व्याख्या के सर्वाधिक निकट पाते हैं। पी० वी० काणे ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है[1]। यद्यपि भट्टनायक का वर्तमान समय में कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ प्राप्त नहीं है, तथापि अभिनवभारती सहित परवर्त्ती अनेक ग्रन्थों में उनके विचारों को प्रस्तुत किया गया है। भट्टनायक के अनुसार काव्य दोषों के अभाव एवं गुणों के सद्भाव और नाट्य में वाचिक आदि चतुर्विध अभिनय से निज निविड मोह सङ्कटता के निवारक

१. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स : पी० वी० काणे, पृ० २४८।

विभाव आदि के साधारणीकृत हो जाने से अभिधा से भिन्न भावकत्व व्यापार के द्वारा रस भाव्यमान होता है। अनुभव एवं स्मृति आदि से विलक्षण, रजो एवं तमोगुण के अनुवेध से उत्पन्न विचित्रता के कारण द्रुति, विस्तार एवं विकास रूप सत्त्व के उद्रेक से प्रकाशमय, आनन्दमय एवं निजसंविद्विश्रान्ति रूप परब्रह्मास्वाद साविद्य भोजकत्व व्यापार से इनका भोग किया जाता है[१]।

व्यञ्जना का विरोध, अभिधा एवं भावकत्व व्यापार की स्वीकृति, रस एवं काव्य में भाव्य-भावकभाव सम्बन्ध स्वीकार करना, रस की आनन्दात्मकता, विभाव आदि का साधारणीकरण और रसाश्रय के रूप में सामाजिक का कथन आदि तथ्यों के सम्बन्ध में धनञ्जय और भट्टनायक परस्पर सहमति रखते हैं। इसके विपरीत दोनों आचार्यों के दृष्टिकोणों में कतिपय विभिन्नताएँ भी हैं, यथा—धनञ्जय द्वारा भोजकत्व व्यापार की अस्वीकृति, तात्पर्यवृत्ति के आधार पर वाक्यार्थ रूप रस की सत्ता-स्वीकृति, रस-स्वरूप के सम्बन्ध में रजो एवं तमो गुण तथा सत्त्वोद्रेक से उसकी प्रकाशमयता का कथन न करना, अनुकर्त्ता में भी रस की सम्भावना और सहृदय निष्ठ रस की स्पष्ट स्वीकृति आदि।

भट्टनायक के सम्बन्ध में डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त यह सिद्ध करते हैं कि उनका यह भावकत्व-व्यापार मीमांसा दर्शन पर आधारित है[२]। अतः भावकत्व व्यापार की स्वीकृति के कारण धनञ्जय को भी इसका अपवाद स्वीकार नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः मीमांसा में क्रिया को 'भावना' के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है, और 'भावना' शब्द का प्रयोग दशरूपक में भी प्राप्त होता है[३]। साध्य की सिद्धि के अनुकूल व्यापार को 'भावना' कहा जाता है[४]। शाब्दी एवं आर्थी रूप द्विविध 'भावना' में साध्य, साधन और इति कर्तव्यता अपेक्षित होते हैं। काव्य और नाट्य के प्रसङ्ग में रस साध्य, काव्य-भावना साधन और गुण, अलङ्कार, औचित्य एवं चतुर्विध अभिनय आदि इति कर्त्तव्यता के अन्तर्गत परिगणित किये जायेंगे[५]। अतः धनञ्जय के रस-सिद्धान्त को अधिकांशतः मीमांसा दर्शन पर आधारित स्वीकार किया जा सकता है। अधिकांशतः इस अर्थ में कि उन्होंने रस के आनन्दमयत्व को स्वीकार किया है तथा उसको आत्मानन्द से उत्पन्न स्वाद भी कहा है। मीमांसा दर्शन में आत्मा की आनन्दात्मकता का निषेध किया गया है[६]। वस्तुतः मीमांसा दर्शन में परस्पर विरोधी अनेक विचार धारायें हैं। भाट्टों का एक पक्ष मुक्तावस्था में आत्मा की आनन्दा-

---

१. तस्मात्काव्ये दोषाभाव गुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयेरूपेण निविडनिजमोहसङ्कटकारिणा विभावादिसाधारणी करणात्मनाऽभिधातो द्वितीयेनांशेन रजस्तमः ऽनुवेध वैचित्र्य बलाद् द्रुतिविस्तार विकास-लक्षणेन सत्वोद्रेक प्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वाद सविधेन भोगेन परं भुज्यत इति। अभि० भा० (ना० शा० भाग–१) पृ० २७७।

२. रसगङ्गाधर का शास्त्रीय अध्ययन पृ० १४९।

३. काव्यार्थभावनास्वादो नर्तकस्य न वार्यते॥ ४।४२ दश०

४. भावना नाम भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापार विशेषः। रसगङ्गाधार का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० १४९ से उद्धृत।

५. साधारणीकरण : एक शास्त्रीय अध्ययन पृ० ६९।

६. भारतीय दर्शन पृ० ३३४।

त्मिका अवस्था को स्वीकार करता है[1]। अतः सम्भव है कि धनञ्जय भी भाट्टों के इसी सम्प्रदाय के समर्थक और पोषक रहे हों। यदि यही वस्तुस्थिति है तो धनञ्जय के मीमांसक होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता है और यही सत्य भी प्रतीत होता है। डॉ० श्रीनिवास शास्त्री भी स्पष्टरूपेण धनञ्जय के रस-सिद्धान्त को मीमांसा के आधार पर परिकल्पित स्वीकार करते हैं[2]।

धनञ्जय के विपरीत रामचन्द्र-गुणचन्द के रस-विवेचन में किसी भी दार्शनिक पृष्ठभूमि का नितान्त अभाव दृष्टिगोचर होता है। पूर्वाग्रह के अभाव के कारण ही वह यथार्थवादी और लौकिक भावना से अनुस्यूत है तथा इसी आधार पर वह आचार्य भरत के मूल मन्तव्य के सर्वाधिक निकट भी प्रतीत होता है। पूर्ववत् यदि भरत के रस-सूत्र के व्याख्याताओं की टीकाओं पर विचार करें तो रामचन्द्र-गुणचन्द्र का विवेचन भट्ट लोल्लट की विचार धारा से पर्याप्त साम्य रखता है।

आचार्य भरत के रस-सूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में भट्टलोल्लट का विचार है कि स्थायीभाव के साथ विभाव आदि के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है। विभाव चित्तवृत्ति रूप स्थायी को उत्पत्ति मे कारणभूत हैं। रसजन्य अनुभाव इस प्रसङ्ग में विवक्षित नहीं हैं, क्योंकि वह स्वयं रस से उत्पन्न होने के कारण उसके कारण नहीं हो सकते। आलम्बन विभाव के अनुभाव ही कारण के रूप में विवक्षित हैं। व्यभिचारीभाव यद्यपि चित्तवृत्यात्मक होने से स्थायीभाव के सहभावी नहीं हो सकते तथापि उनका वासनात्मक रूप ही यहाँ अभोष्ट है। भरत द्वारा प्रदत्त दृष्टान्त में भी व्यञ्जन आदि के मध्य किसी भी स्थायी के सदृश वासनात्मक और किसी भी व्यभिचारी ने सदृश अद्भुत स्थिति होती है। इसलिये विभाव और अनुभाव आदि से उपचित स्थायी ही रस होता है। अपरिपुष्ट ही स्थायी भाव कहा जाता है। यह रस मुख्यतः अनुकार्य राम आदि में और अनुसन्धान बल से अनुकर्ता में होता है।[3]

कतिपय विद्वान् भट्टलोल्लट और उसके रस-विवेचन पर भी दर्शन को आरोपित करते रहे हैं। वामन झलकीकर उनको भट्टमतोपजीवी मीमांसक[4], आचार्य विश्वेश्वर उत्तर मीमांसक अर्थात् वेदान्ती[5], और डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय शैव[6] कहते हैं। डॉ० तारकनाथ बाली उनको

१. दुःखात्यन्तमुच्छेदे सति प्रागात्मवर्तिनः।
सुखस्य मनसा भुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलैः॥ मानमेयोदय। भारतीय दर्शन, पृ० ६३५ से उद्धृत।

२. दश०—भूमिका : डा० श्रीनिवास शास्त्री, पृ० ३५-३६।

३. अत्र भट्टलोल्लट प्रभृतयस्तावदेयं व्याचख्युः—विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रस-निष्पत्तिः। तत्र विभावश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकायाः उत्पत्तौ कारणम्। अनुभावाश्च न रसजन्या तत्र विवक्षिताः। तेषां रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात्। अपितु भावनामेव येऽनुभावाः। व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वाद् यद्यपि न सहभाविनः स्थायिना तथापि वासनात्मनेह तस्य विवक्षिताः। दृष्टान्तेऽपि व्यञ्जनादिमध्ये कस्यचिद् वासनात्मकता स्थापिवत्। अन्यस्योद्भूतता व्यभिचारिवत्। तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभि-रूपचितो रसः। स्थायी भवत्वनुपचितः। स चोभयोरपि। मुख्यया वृत्त्या रामादौ अनुकार्येऽनुकर्तर्यपि चानुसन्धानबलात्—इति। अभि० भा० (ना० शा० भाग-१) पृ० २७२।

४. बालबो० (का० प्र०-वामन झलकीकर) पृ० २२५।

५. का० प्र० पृ० १०१-१०२।

६. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एस्थेटिक्स पृ० २८।

असत्कार्यवाद से सम्बद्ध करते हैं[1]। पी० वी० काणे ने उनको पूर्व मीमांसक कहा है[2]। वास्तव में पुष्ट प्रमाणों और तथ्यों के अभाव में इन पूर्वाग्रहों को प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता है। तात्त्विक दृष्टि से भट्टलोल्लट की व्याख्या किसी दार्शनिक पूर्वाग्रह से ग्रस्त प्रतीत नहीं होती है, प्रत्युत आचार्य भरत के मूल मन्तव्य के अनुरूप व्यवहारवादी दृष्टिकोण पर प्रतिष्ठित है। इस तथ्य का समर्थन अनेक विद्वानों ने भी किया है। डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त[3], डॉ० नागेन्द्र[4], डॉ० ऋषिकुमार चतुर्वेदी[5] और डॉ० रामलखन शुक्ल[6] का नाम इस दृष्टि से प्रस्तुत किया जा सकता है।

डॉ० ऋषि कुमार चतुर्वेदी[7] और डॉ० रामलखन शुक्ल[8] का विचार है कि लोल्लट का अनुकार्य से तात्पर्य कवि-निबद्ध पात्रों अथवा यों कहें कि सम्पूर्ण नाट्यकृति से ही था। वस्तुतः उनका आशय लौकिक राम आदि से ही था, कवि-निबद्ध राम आदि से नहीं, क्योंकि अपने सत्तात्मक अभाव के कारण कवि-निबद्ध पात्रों में रस की सत्ता का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है। अपने यथार्थवादी एवं वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण के कारण वह लौकिक अनुकार्य और कवि-निबद्ध अनुकार्य में अन्तर अनुभव नहीं कर सके। वास्तव में इस आक्षेप के आधार पर भी ऐसा स्वीकार करने पर रस का स्वरूप लौकिक हो जायेगा, इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। भट्टलोल्लट का रस का विवेचन लौकिक धरातल पर ही अभीष्ट था, अलौकिक धरातल पर नहीं। अतः उनकी दृष्टि में लौकिक अनुकार्य ही प्रत्यक्ष रस का वास्तविक भोक्ता है और आश्रय भी। अनुकर्ता और सामाजिक की वासना भी उनको मान्य है, तथापि इनकी रस विषयक प्रत्यक्षानुभूति उनको स्वीकार्य नहीं है। यही भट्टलोल्लट और रामचन्द्र-गुणचन्द्र में आधारभूत मौलिक साम्य है।

नाट्यदर्पण में स्पष्टरूपेण राम आदि लौकिक अनुकार्य को भी रस का आश्रय स्वीकार किया गया है। लौकिक रस को स्पष्ट स्वीकृति देने वाले रामचन्द्र-गुणचन्द्र प्रथम संस्कृताचार्य हैं। इसी आधार पर वे रस का ल.कगत और काव्यगत तथा नियत विषयत्व एवं अनियत अर्थात् सामान्य विषयत्व के रूप में पुनः द्विधा विभक्तिकरण करते हैं। वे भी लोकगत रस को प्रत्यक्ष एवं स्वगत कहते हैं। काव्यगत रस उनकी दृष्टि में परोक्ष और परगत है। सामाजिक को होने वाली रसानुभूति को भी वे परोक्ष ही स्वीकार करते हैं, प्रत्यक्ष नहीं। भट्टलोल्लट के ही समान अनुकर्ता की भी रसानुभूति का वे कथन करते हैं। धनञ्जय भी यहाँ इस विचार धारा के समर्थक हैं।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र की अनुभाव के स्वरूप-विवेचन की पद्धति पर भी भट्टलोल्लट का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। लौकिक प्रेम आदि को प्रत्यक्ष रस के रूप में स्वीकृत रूप आधारभूत

१. रस-सिद्धान्त का दार्शनिक तथा नैतिक विवेचन पृ० ३७। (उपर्युक्त दोनों उद्धरण डॉ० नगेन्द्र के रस-सिद्धान्त के पृ० १४९ से उद्धृत।)
२. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स—पी० वी० काणे, पृ० ५१।
३. रसगङ्गाधर का शास्त्रीय अध्ययन पृ० १२६।
४. रस-सिद्धान्त : डॉ० नगेन्द्र पृ० १५०।
५ रस-सिद्धान्त : डॉ० ऋषि कुमार चतुर्वेदी पृ० ५८।
६. साधारणीकरण : एक शास्त्रीय अध्ययन पृ० ३७।
७. रस-सिद्धान्त : डॉ० महर्षिकुमार चतुर्वेदी पृ० ५९।
८. साधारणीकरण : एक शास्त्रीय अध्ययन पृ० २३, ३५।

साम्य के अतिरिक्त रामचन्द्र-गुणचन्द्र भट्टलोल्लट से भिन्न अन्य नवीन तथ्यों का भी प्रतिपादन करते हैं। भट्टलोल्लट रस के तीन आधारों का कथन करते हैं—अनुकार्य, अनुकर्ता और सामाजिक। रामचन्द्र-गुणचन्द्र इनमें काव्य के श्रोता और अनुसन्धाता को भी सम्मिलित कर इनका क्षेत्र और अधिक विकसित कर देते हैं। लौकिक रस की स्वीकृति का बीज यद्यपि उन्होंने भट्टलोल्लट से ग्रहण किया है, तथापि उसको पूर्ण स्पष्टता के साथ स्वीकार करने तथा पल्लवित करने का श्रेय उनको ही प्राप्त होता है। लौकिक एवं काव्यिक रस में नियत विषयत्व एवं अनियत विषयत्व, प्रत्यक्षता एवं परोक्षता, स्वगतता एवं परगतता और ध्यामलता आदि के रूप में उसका अधिक सूक्ष्म एवं वर्गीकृत विवेचन प्रस्तुत कर वे भट्टलोल्लट की परम्परा को लक्ष्योन्मुखी गतिशीलता प्रदान करते हैं।

अब धनञ्जय और रामचन्द्र-गुणचन्द्र की वैयक्तिक रस-विषयक मान्यताओं की ओर दृष्टिपात करते हैं। सर्वप्रथम धनञ्जय द्वारा तात्पर्यशक्ति के विस्तृत विषय-क्षेत्र के आधार पर व्यञ्जना की अस्वीकृति पर विचार करें। वस्तुतः इस सम्बन्ध में धनिक धनञ्जय द्वारा मात्र संकेतित मन्तव्य का विस्तृत व्याख्यान करते हैं। अतः यहाँ धनिक के एतत्सम्बद्ध विचारों को संक्षेप में प्रस्तुत करना अप्रासङ्गिक एवं अनुचित न होगा।

धनिक का अभिमत है कि समस्त वाक्यों के कार्यपरक होने से काव्य के वाक्यों का कार्य आनन्दानुभूति ही सिद्ध होता है। काव्य के शब्दों की प्रवृत्ति के विषय के प्रतिपादक विभाव आदि के होने के कारण यह आनन्दानुभूति में निमित्तभूत होते हैं। अतः यही तात्पर्यार्थ के रूप में विभिन्न रसों का प्रतिपादन करते हैं। अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा से भिन्न कोई शब्द-शक्ति नहीं है। तात्पर्यशक्ति की कोई परिमित सीमा नहीं है। प्रवृत्ति-निवृत्ति-बोध रूप कार्य पर्यन्त ही इसका विस्तार अथवा प्रसार होता है। वस्तुतः वक्ता के विवक्षित अर्थ पर्यन्त तात्पर्य का पर्यवसान होता है।[1]

अतः स्पष्ट है कि धनिक तथा उसके अनुरूप धनञ्जय भी तात्पर्यवृत्ति के क्षेत्र को व्यञ्जना पर्यन्त विस्तृत कर उसको इसमें ही अन्तर्मुक्त कर लेते हैं। निश्चितरूपेण उनकी यह तात्पर्यवृत्ति कुमारिल भट्ट आदि मीमांसकों की संकुचित और मर्यादित तात्पर्यवृत्ति से पर्याप्त भिन्न है। यह धनञ्जय का मौलिक चिन्तन एवं नवीन दृष्टि है। मीमांसा साहित्य को वास्तव में उनका ऋणी होना चाहिए।

सच पूछा जाये तो धनञ्जय की इस तात्पर्यवृत्ति और ध्वनिवादियों की व्यञ्जनावृत्ति में कोई मौलिक भेद नहीं है। यदि धनञ्जय कुमारिल द्वारा प्रतिपादित तात्पर्यवृत्ति में ही व्यंग्यार्थ के अन्तर्भाव का प्रयत्न करते तो उनकी सफलता सन्दिग्ध थी, किन्तु उसको व्यापक स्वरूप देकर उसमें समस्त ध्वनिप्रपञ्च को अन्तर्भूत करने में वह सफल प्रतीत होते हैं। इस प्रकार वह मीमांसा सम्प्रदाय की अपेक्षा ध्वनिसम्प्रदाय के अधिक निकट आ गये हैं। यहाँ तक कि यदि उनके द्वारा प्रतिपादित तात्पर्यवृत्ति को ही व्यञ्जनावृत्ति कह दिया जाये तो कोई तात्त्विक अन्तर नहीं पड़ेगा।[2]

---

१. धनिक-वृत्ति (४२१०) पृ० ३३४-३३९।

२. रस-सिद्धान्त : इतिहास और मूल्यांकन पृ० १८०-१८१।

आचार्य मम्मट ने तात्पर्यवाद का खण्डन करने के लिए उसकी मूलभूत मान्यता 'यावत्कार्य प्रसारिता' की कल्पना पर ही प्रहार किया है, किन्तु उनका यह कथन कुमारिल द्वारा प्रतिपादित तात्पर्यवाद को लेकर ही प्रेरित है। धनञ्जय एवं धनिक ने तात्पर्य की मीमांसा शास्त्र निबद्ध कल्पना को उदार बनाकर इतना विस्तृत कर दिया है कि उसमें व्यञ्जनावादियों के निखिल प्रपञ्च का अन्तर्भाव हो जाता है तथा व्यञ्जना और तात्पर्य एक ही हो जाते हैं[1]।

परन्तु डॉ० नरेशचन्द्र पाठक के उपर्युक्त विचारों के सन्दर्भ में भी धनञ्जय के इस मन्तव्य को पूर्णतः स्वीकार नहीं किया जा सकता है। उनकी दृष्टि में वाच्यार्थ पदार्थ स्थानीय और व्यङ्ग्यार्थ वाक्यार्थ स्थानीय है। वास्तव में पदार्थ-वाच्यार्थ और वाच्यार्थ-व्यङ्ग्यार्थ की प्रकृति परस्पर नितान्त भिन्न है। वाच्यार्थ व्यङ्ग्यार्थ में पदार्थ-वाच्यार्थ-न्याय घटित नहीं होता है[2]। तात्पर्य यह है कि पदार्थ-वाक्यार्थ में घटतदुपादानकारण-न्याय होता है अर्थात् जिस प्रकार घट के ज्ञान के समय कपाल-द्वय रूप उसके उपादन कारण की पृथक्-पृथक् प्रतीति नहीं होती है, उसी प्रकार वाक्यार्थ-बोध के समय परस्पर अनन्वित पदार्थ-बोध भी नहीं होता है; क्योंकि वाक्यार्थ-बोध के लिए पदार्थों की संयुक्त प्रतीति आवश्यक है, विपुल प्रतीति नहीं[3]। वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के सम्बन्ध में यह न्याय घटित नहीं होता है, क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ को प्रतीति के साथ-साथ वाच्यार्थ भी अवभासित होता है, दोनों की समकालिक सत्ता परस्पर विरोधी नहीं है। व्यङ्ग्यार्थ की प्रतिपत्ति के लिए वाच्यार्थ की प्रतीति की साधनरूपता को आचार्य आनन्दवर्धन ने भी स्वीकार किया है[4]। अब यदि विभाव और रस के प्रसङ्ग में इस वस्तुस्थिति का अवलोकन करें तो स्वयं धनञ्जय का मत ही उनके विपरीत दृष्टिगत होता है; क्योंकि रस की अनुभूति के समय विभाव आदि की भी प्रतीति होती रहती है। इनके क्रमशः पदार्थ और वाक्यार्थ-स्थानीय होने के कारण दोनों की एक साथ होने वाली अनुभूति असङ्गत है। अतः रस को वाक्यार्थ-स्थापनीय स्वीकार नहीं किया जा सकता। रस वाक्यार्थ से भिन्न व्यङ्ग्यार्थ ही है और वह तात्पर्यशक्ति का विषय नहीं है। उसके लिए व्यञ्जनावृत्ति की स्वीकृति अनिवार्य है।

भट्टनायक की आलोचना के प्रसङ्ग में आचार्य अभिनवगुप्त उनके भावकत्व व्यापार को व्यञ्जना से अभिन्न सिद्ध कर देते हैं। उनकी आलोचना को यथावत् धनञ्जय पर भी लागू किया जा सकता है। अभिनवगुप्त के अनुसार भावकत्व व्यापार का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है, अपितु विविध रसों के उपयुक्त गुणों और अलङ्कारों में ही उसका भी परिग्रह हो जाता है। 'भावक' शब्द स्वयं 'उत्पन्न होना' अर्थवाली 'भू' धातु से निष्पन्न है। अतः काव्य को

---

१. रस-सिद्धान्त : इतिहास और मूल्याङ्कन पृ० १८१।

२. न च पदार्थवाक्यार्थन्यायोवाच्यव्यंङ्ग्योः। ध्वन्या० (आ०) पृ० १०३९।

३. अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद्विभागे स्यात्। ४६।२।२ जैमिनीसूत्र।
ध्वनि-सिद्धान्त : विरोधी सम्प्रदाय—उनकी मान्यताएँ, पृ० ३०६ से उद्धृत।

४. यथा पदार्थ द्वारेण वाक्यार्थः संप्रतीयते।
वाच्यार्थ पूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः ॥ १।१० ध्वन्या०

रसों का भावक कहना प्रकारान्तर से स्वयं ही उसके उत्पत्ति-पक्ष को स्वीकार करना है[1]। ध्यातव्य है कि स्वपक्ष की स्थापना से पूर्व स्वयं भट्टनायक रसोत्पत्ति का खण्डन करते हैं[2]। एक तथ्य यह भी है कि मात्र काव्य-शब्द ही रस के भावक नहीं होते; क्योंकि अर्थ के अज्ञान की स्थिति में यह सम्भव नहीं है और एकाकी अर्थ भी भावकत्व की सामर्थ्य से रहित होता है, क्योंकि उसके बोधक विभिन्न शब्दों के प्रयोग से भी रस-भावना नहीं होती है। अतः शब्द और अर्थ दोनों सम्मिलित रूप से रस के भावक होते हैं। इन दोनों के भावकत्व का तो स्वयं हमने भी कथन किया है कि जब शब्द अथवा अर्थ स्वयं को अथवा अपने अर्थ को गौण करके व्यङ्ग्यार्थ को प्रकट करते हैं, तब विद्वान् उस काव्य को ध्वनि कहते हैं। इसलिए गुण, अलङ्कार और औचित्य आदि इतिकर्त्तव्यता रूप व्यञ्जना-व्यापार के माध्यम से ही काव्य रसों को भावित करता है। अंशत्रयी भावना के करण नामक अंश में ध्वनन व्यापार ही होता है[3]। भावकत्व की ध्वनन व्यापार में अन्तर्भुक्ति के कारण धनञ्जय और धनिक की सम्पूर्ण मान्यता स्वयमेव ध्वस्त हो जाती है।

डॉ० रामलखन शुक्ल द्वारा कृत धनञ्जय की यह आलोचना भी उचित प्रतीत होती है कि उन्होंने कवि-कल्पना को स्पष्टतः स्वीकार कर लिया है और यह सिद्ध किया है कि सामाजिक की वासना को उद्रिक्त करने में वह सहायक सिद्ध होती है और परिणामस्वरूप सामाजिक अपनी ही वासना की रसरूप में चर्वणा करता है, किन्तु सामाजिक की वासना को स्पष्ट स्वीकृति देकर भी उन्होंने उसकी अभिव्यक्ति न मानकर बहुत बड़ी भूल की है। स्थायीभाव वासनारूप में प्रत्येक सामाजिक में अवस्थित रहते हैं। विभाव आदि उन्हीं स्थायी भावों को उद्रिक्त करते हैं और सामाजिक की चर्वणा स्वगत ही होती है। इस प्रकार यदि हम देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि रस की अभिव्यक्ति ही होती है। वह वाच्यार्थ के रूप में प्रतीत नहीं होता। उन्होंने काव्य को रस-वान् कह कर यह सिद्ध किया है कि यह लाक्षणिक प्रयोग है। उनका कहना है कि रसोद्रेक में काव्य सहायक भूततत्त्व है। वह वस्तुतः रसवान् नहीं होता, रसवान् तो सामाजिक होता है। इतना स्वीकार करने के बावजूद उन्होंने वाक्यार्थ में ही रस कैसे मान लिया ? यदि स्थायीभाव ही विभा-वादि से आस्वाद-योग्य बनाये जाते हैं और ये स्थायी भाव सामाजिक के हैं, जैसा कि धनञ्जय और धनिक ने स्वीकार किया है, तो उनकी मान्यता निश्चय ही उनके अपने मत के विपरीत पड़ती है,

---

१ भावकत्वमपि समुचित गुणालङ्कारपरिग्रहात्मकस्माभिरेव वितत्य वक्ष्यते। किमितदपूर्वम्। काव्यं च रसान् प्रतिभावकमिति यदुच्यते तत्र भवतैव भावनादुत्पत्ति पक्ष एव प्रत्युज्जीवितः। लो० (ध्वन्या० भाग १) पृ० ३१७।

२. भट्टनायकस्त्वाह—रसो न प्रतीयते। नोत्पद्यते। नाभिव्यंज्यते। अभि० भा० (ना० शा० भाग—१) पृ० २७६।

३. न च काव्यशब्दानां केवलं भावकत्वम्, अर्थापरिज्ञाने तद्भावात्। न च केवलानामर्थानाम्, शब्दान्तरेणा-र्प्यमाणत्वे तदयोगात्। द्वयोस्तु भावकत्वमस्माभिरेवोक्तम्। यथार्थः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः। ३।१ इत्यत्र। तस्माद् व्यञ्जकत्वारण्येन व्यापारेण गुणालङ्कारोचित्यादिकयेति कर्त्तव्यं तया काव्यं भावकं रसान् भावयति, इति त्र्यंशायामपि भावनायां करणांशे ध्वननेनैव नियतति। लो० (ध्वन्या० भाग—१) पृ० ३१६-३१७।

क्योंकि वाच्यार्थ का सम्बन्ध काव्य से है और काव्य में रस की निष्पत्ति नहीं होती। रस-रसना की निष्पत्ति तो सामाजिक में होती है[1]।

डॉ० रामलखन शुक्ल धनञ्जय द्वारा काव्यास्वयित सामाजिक के परिप्रेक्ष्य में मिट्टी आदि से निर्मित हाथी आदि क्रीडनक के साथ क्रीड़ारत तथा फलस्वरूप अपने उत्साह का ही आस्वादन करने वाले बालक के उदाहरण की आलोचना करते हैं और इस पर शङ्कुक के चित्र-तुरंग-न्याय का प्रभाव स्वीकार करते हैं[2]। इस सम्बन्ध में धनञ्जय की आलोचना करने से पूर्व हमको यह स्मरण रखना चाहिए कि इससे पूर्व पंक्ति में ही इसके हेतुभूत विभाव आदि के निर्विशेष स्वरूप की काव्य द्वारा प्रस्तुति का धनञ्जय कथन कर चुके हैं। अतः इस समय नायक आदि के सामान्य रूप के साथ सामाजिक के तन्मय हो जाने की अवस्था है। धनञ्जय इस उदाहरण के माध्यम से दो तथ्यों को स्पष्ट करना चाहते हैं। प्रथम, विभाव आदि के अवास्तविक होने पर भी काव्य द्वारा उपस्थापित उसके सामान्य स्वरूप के साथ सहृदय की तन्मयता और स्वस्थ आनन्द का ही उसके द्वारा आस्वादन। बालक जब कृत्रिम क्रीडनकों के साथ खेलता है, तब अबोधतावश वह उनको न तो वास्तविक हाथी-घोड़ा समझता है और न ही कृत्रिम। इन दोनों ही अवस्थाओं से मुक्त होकर वह उसके साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। क्रीड़ा के समय उसको अपने ही उत्साह आदि की अनुभूति होती है, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है। धनञ्जय सहृदय के रसास्वाद को क्रीड़ारत बालक के सदृश नहीं कह रहे हैं, अपितु उपमा मात्र दे रहे हैं। सम्भवतः डॉ० शुक्ल को इसमें इसलिए भी अनौचित्य प्रतीत हुआ कि वह बालक के स्वोत्साहास्वादन को प्रौढ़ सामाजिक की दृष्टि से देखते हैं। वस्तुतः उसको भी उसी परिप्रेक्ष्य में अबोध बाल-दृष्टि से देखें तो यह अनौचित्य अनुचित ही प्रतीत होगा। डॉ० सुलेखचन्द्र शर्मा भी धनञ्जय द्वारा प्रदत्त इस उदाहरण की महत्ता को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यह सहृदय के अनुभव-संसार तथा काव्य-परिवेश के अन्तःसम्बन्ध को क्रीड़ापरक अवधारणा के आधार पर विश्लेषित करती है[3]। यद्यपि धनञ्जय ने क्रीडावृत्ति में किसी दार्शनिक अथवा मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ को अपनी अवधारणा के मूल में स्थापित नहीं किया है, किन्तु अनुकार्य के काव्योपहित स्वरूप के साथ प्रमाता के अन्तःसम्बन्ध की संकल्पना का एक विशिष्ट धरातल इस व्याख्या से उद्घाटित हुआ है[4]।

अब रामचन्द्र-गुणचन्द्र के मन्तव्य की ओर आलोचनात्मक दृष्टिपात करते हैं। सर्वप्रथम उनकी लौकिक प्रेम आदि की भी रस-रूप में स्वीकृति से सम्बद्ध अवधारणा का अवलोकन करें। वस्तुतः सुदीर्घ नाट्यशास्त्र परम्परा में किसी भी आचार्य द्वारा लोकगत रस की सत्ता-स्वीकृति का आग्रह नहीं किया गया। आपवादिक रूप में भट्टनायक का उल्लेख अवश्य किया जा सकता है। तथ्यात्मक दृष्टिकोण से रामचन्द्र-गुणचन्द्र की इस मान्यता का समर्थन उचित प्रतीत नहीं होता है। लोक और नाट्य की प्रकृति सर्वथा भिन्न होती है। इस सम्बन्ध में डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी को उद्धृत करना अवसरानुरूप होगा। उनका कथन है कि मेरा एकमत्य उनसे बिल्कुल नहीं है जो यह मानते हैं

---

१. साधारणीकरण : एक शास्त्रीय अध्ययन पृ० १०८।

२. पूर्वोक्त पृ० १०९-११०।

३. अभिनवोत्तर संस्कृत-काव्य-शास्त्र में साधारणीकरण-विमर्श पृ० ४२।

४. पूर्वोक्त पृ० ४७।

कि व्यवहारोपयोगी या हानि-लाभोपयोगी व्यावहारिक सामग्री एवं रसात्मक परिणति प्रदान करने वाली रसोचित सामग्री की प्रकृति में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए उनका मत भी नितान्त उपेक्ष्य है, जो रोज़मर्रा के सामान्य लौकिक अनुभवों से रसात्मक अनुभव का अन्तर स्वीकार नहीं करते[१]। लौकिक घटनाओं एवं साधन-सामग्री पर व्यक्ति का नियन्त्रण नहीं होता। उनको यथावत् रूप में व्यक्ति को स्वीकार करना ही पड़ता है। इसके विपरीत नाट्य-सामग्री स्वाधीन होती है—निर्माता कवि की दृष्टि से और ग्रहीता सहृदय की दृष्टि से भी। कहा भी गया है कि असीमित काव्य-संसार का प्रजापति कवि ही होता है और समस्त विश्व इसकी इच्छानुरूप ही परिवर्तित होता है[२]। अतः लोक और काव्य की प्रकृति की भिन्नता के आधार पर उससे उद्भूत रस की प्रकृति में भी अन्तर स्वीकार करना पड़ेगा। इसलिए रामचन्द्र-गुणचन्द्र की लोकगत और काव्यगत रस की अवधारणा को समान धरातल पर स्वीकार नहीं किया जा सकता। वास्तव में काव्यिक रस की उदात्त अनुभूति के समक्ष रखना उसकी उदात्तता और गरिमा से च्युत करना है।

एक तथ्य यह भी आलोच्य है कि यद्यपि रामचन्द्र-गुणचन्द्र यह स्वीकार करते हैं कि लोकगत कार्य, हेतु एवं सहचारी को ही काव्य में क्रमशः अनुभाव, विभाव और व्यभिचारी कहा जाता है तथापि लोकगत रस के निरूपण के अवसर पर भी उन्होंने 'विभाव' आदि शब्दों का ही प्रयोग किया है, हेतु आदि का नहीं[३]।

उत्कर्ष प्राप्त चित्तवृत्ति रूप स्थायीभाव को ही रस स्वीकार करने पर भी स्वयं उनके द्वारा काव्यगत रस को अप्रत्यक्ष एवं परगत तथा लोकगत रस को प्रत्यक्ष एवं स्वगत कहना विरोधाभासी वक्तव्य है। सम्भवतः रामचन्द्र-गुणचन्द्र लौकिक रस को ही मूल रस स्वीकार करते हैं और काव्य में लोकगत कारण आदि की ही शाब्दिक विभाव आदि के रूप में उपस्थिति के आधार पर मूलतः अनुकार्य राम आदि की दृष्टि से इनकी परोक्षता और परगतता का कथन करते हैं। वस्तुतः चित्तवृत्त्यात्मक स्थायी भाव के सामाजिकस्थ होने और विभाव आदि के साधारणीकृत होने में इनके मूल अनुकार्य से असम्बद्ध हो जाने के कारण सहृदय की रसानुभूति को प्रत्यक्ष और स्वगत स्वीकार किया जाना चाहिए, परोक्ष एवं परगत नहीं। अतः रामचन्द्र-गुणचन्द्र की एतद् विषयक मान्यता भी पूर्णतः अस्वीकार्य है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र रस की लोकोत्तरता का तो कथन करते हैं; परन्तु इस सम्बन्ध में दिया गया उनका तर्क विचित्र है। काव्यगत विभावों के अवास्तविक होने से सामाजिकस्थ अनुभावों और व्यभिचारियों की अस्पष्टता को इस लोकोत्तरता का आधार स्वीकार नहीं किया जा सकता है। एक तथ्य यह भी ध्यातव्य है कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र यहाँ रस को लोकोत्तर कहते हैं, अलौकिक नहीं। रस की सुख-दुःखात्मक रूप उभयात्मक प्रकृति के उद्घोषक होने के कारण वे अभिनवगुप्त आदि समस्त रस के अलौकिकत्व का समर्थन करने की स्थिति में नहीं हैं। अतः उनके द्वारा मान्य रस की

---

१. रस-विमर्श : पृ० ८७।

२. अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथैव परिवर्तते ॥ ध्वन्या (उत्त०) पृ० १२२९।

३. विवृत्ति, ना० द० पृ० १४२।

लोकोत्तरता लोकगत रस से उसकी भिन्न प्रकृति का बोधमात्र कराती है तथापि उनकी यह लोकोत्तरता विषयक अवधारणा भी सर्वथा अग्राह्य है।

अब सामाजिक की रसानुभूति के सम्बन्ध में धनञ्जय और रामचन्द्र-गुणचन्द्र के विचारों को तुलनात्मक दृष्टि से देखें। दोनों के विचारों में अन्तर परिलक्षित होता है। रूपक रचना के समय राम आदि वास्तविक अनुकार्य के उपस्थित न होने पर भी ऋषितुल्य कवि अपने ज्ञान-चक्षुओं से उनके दर्शन कर काव्य में उनका उपनिबन्धन करता है। इस प्रकार कवि-कल्पना और काव्य-निर्माण में उनके महत्त्व को धनञ्जय और रामचन्द्र-गुणचन्द्र समानरूपेण स्वीकार करते हैं।

धनञ्जय की मान्यता है कि कवि निबद्ध अनुकार्य वास्तविक अनुकार्य से भिन्न होते हैं क्योंकि काव्य में कवि व्यक्ति-विशेष का नहीं अपितु उनकी धीरोदात्त आदि अवस्थाओं का ही चित्रण करता है। व्यक्तिगत वैचित्र्य से रहित ये अवस्थाएँ ही सामाजिकस्थ 'रति' आदि को भावित कर उसके रसास्वाद में निमित्तभूत होती हैं।[१] धनञ्जय ने यद्यपि भट्टनायक के 'साधारणीकरण' शब्द का प्रयोग तो नहीं किया तथापि यहाँ वह अस्पष्टतः विभाव आदि के साधारणीकरण का ही कथन करते हैं। इसी प्रसङ्ग में यह भी ध्यातव्य है कि विभाव आदि के सदृश स्थायीभाव के साधारणीकरण का उल्लेख भट्टनायक के समान उन्होंने भी नहीं किया है। सम्भवतः धनञ्जय ने विभाव आदि के साधारणीकरण की अवस्था में स्थायीभाव के साधारणीकरण को सामान्य प्रक्रिया समझ कर अनिर्दिष्ट ही छोड़ दिया। डॉ० रामलखन शुक्ल के अनुसार विभाव आदि के साथ स्थायीभाव के साधारणीकरण की स्वीकृति अवश्य होनी चाहिए, अन्यथा रस किस आधार पर भाव्यमान होगा। काव्य-सौन्दर्य जब सामाजिक की चेतना को उत्तेजित कर देता है, उस समय काव्य-निहित भाव से सामाजिक का निजी भाव उद्बुद्ध हो जाता है और साधारणीभूत रूप में ही उसकी उद्बुद्धि होगी। सामाजिक के वासनारूप साधारणीभूत भाव की उद्बुद्धि ही रस के भावित होने में कारण होती है।[२] भट्टनायक के प्रसङ्ग में उनके द्वारा अनुक्त होने पर भी स्थायीभाव के साधारणीकरण को स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में गोविन्द ठक्कुर[३] और वामन झलकीकर[४] ने भी निर्दिष्ट किया है।

रसानुभूति की इस प्रक्रिया में रामचन्द्र-गुणचन्द्र कहीं भी धनञ्जय के सदृश विभाव आदि के साधारणीकरण को स्पष्ट रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। उनकी दृष्टि में तो इसके मूल में अध्यवसाय का भाव ही सक्रिय है। इसके भी दो चरण हैं। प्रथम तो अनुकर्ता का मूल अनुकार्य के साथ अध्यवसाय होता है और द्वितीय प्रेक्षक का। अनुकर्ता के अध्यवसाय में उसके द्वारा कविनिबद्ध चरित्र का पुनः-पुनः अध्ययन, अभिनय विषयक अत्यन्त अभ्यास और साक्षात्दृष्ट से मूल अनुकार्य के अनुकरण की भावना इसमें सहायक होती है। प्रेक्षक के अध्यवसाय में वास्तविक अनुकार्य से सम्बद्ध

---

१. दश० ४।४०-४१ पूर्वार्द्ध।

२. साधारणीकरण : एक शास्त्रीय अध्ययन पृ० १४२-१४३।

३. भावकत्वं साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणी क्रियन्ते। पूर्वोक्त ग्रन्थ के पृ० १४२ से उद्धृत।

४. अन्य सम्बन्धित्वेनासाधारणस्य विभावादेः स्थायिनश्च व्यक्तिविशेषांशपरिहारेणोपस्थापनं साधारणीकरणम्.... तदात्मना। भाव्यमानः साधारणी क्रियमाणः। बालबो० (का० प्र०—वामन झलकीकर) पृ० १०७।

शब्द-संकेतों के ज्ञान, अभिनय के समय शब्दायमान अत्यन्त हृदयहारी पार्श्व-संगीत और चतुर्विध अभिनय से उत्पन्न सजीवता निमित्तभूत होती है इस प्रकार प्रेक्षक अनुकर्ता में ही मूल अनुकार्य का अध्यवसाय कर उसके सुख-दुःख में तन्मय होकर उसकी सुख-दुःखात्मक अवस्थाओं का अनुभव करता है।[1] रामचन्द्र-गुणचन्द्र स्पष्टतः विभाव आदि रूप कवि-निबद्ध अनुकार्य का निर्विशेषीकरण अथवा सामान्यीकरण उस रूप में स्वीकार नहीं करते, जिस रूप में धनञ्जय को स्वीकार्य है और इस भ्रान्तिवश उनकी दृष्टि में तत्पश्चात् ही प्रेक्षक अनुकार्य के सुख-दुःख में तन्मयीभाव को प्राप्त हो जाता है।

वस्तुतः यदि रामचन्द्र-गुणचन्द्र के विचारों को दृष्टि में रखकर संस्कृताचार्यों की सम्पूर्ण परम्परा पर दृष्टिपात करें तो हम सहसा ही अन्तिम प्रौढ़ आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ पर रुक जाते हैं। जगन्नाथ स्पष्टरूपेण साधारणीकरण का विरोध कर तादात्म्य सिद्धान्त को स्थापित करते हैं। उनके अनुसार साधारणीकरण भी दोष विशेष की कल्पना के बिना सम्भव नहीं है। अतः साधारणीकरण और दोष विशेष रूप दो हेतुओं की स्वीकृति के स्थान पर भावना रूप के आधार पर प्रमाता की आश्रय के साथ अभेद-बुद्धि को स्वीकार करना ही अधिक श्रेयस्कर प्रतीत होता है।[2] इस प्रक्रिया में साधारणीकरण का सरलतया परिहार हो जाता है। इस दृष्टि से पण्डितराज जगन्नाथ को रामचन्द्र-गुणचन्द्र की परम्परा में रखा जा सकता है।

परन्तु यदि रसानुभूति के सम्बन्ध में रामचन्द्र-गुणचन्द्र की नियतविषयक और अनियत अर्थात् सामान्य विषयक अवधारणा का अवलोकन करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह साधारणीकरण व्यापार को स्वीकार करते हैं, क्योंकि उनका स्पष्ट कथन है कि वास्तविक न होने पर भी काव्य एवं अभिनय के माध्यम से विद्यमान-से प्रतीत होने वाले विभाव अनुसन्धाता, प्रेक्षक और श्रोता के सामान्य स्थायीभाव को ही रस के रूप में उद्बुद्ध करते हैं। काव्य अथवा नाटक आदि में सीता के प्रति राम के शृंगारभाव का अनुकरण किये जाने पर सामाजिक में सीता विषयक शृंगार का समुल्लास नहीं होता है, अपितु उसको सामान्य स्त्री विषयक रसास्वाद ही होता है।[3] डॉ० के० एच० त्रिवेदी[4] और डॉ० सुलेखचन्द्र शर्मा[5] भी रामचन्द्र-गुणचन्द्र द्वारा साधारणीकरण-व्यापार की स्वीकृति का कथन करते हैं। निश्चित रूप से उनकी यह अवधारणा उनकी ही मूल अनुकार्य के साथ अध्यवसाय अथवा तादात्म्य की मान्यता के विरुद्ध प्रतीत होती है।

साधारणीकरण और मूल अनुकार्य के साथ तादात्म्य के विचारों पर यदि दृष्टिपात करें तो रामचन्द्र-गुणचन्द्र को आचार्य विश्वनाथ की श्रेणी में रखा जा सकता है। विश्वनाथ भी साधारणीकरण और अनुकार्य से अभेद अर्थात् तादात्म्य को एक साथ स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार

---

१. विवृत्ति, ना द० पृ० १६७-१६८।

२. यद्यपि विभावादीनां साधारण्यं प्राचीनैरुक्तम्, तदपि काव्येन शकुन्तलादिशब्दैः शकुन्तलात्वादि प्रकाशकबोधजनकैः प्रतिपाद्यमानेषु शकुन्तलादिषु दोषाविशेषकल्पनं विना दुरूपपादनम्। अतोऽवश्यकल्प्ये दोषविशेषे, तेनैव स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरपि सूपपादा। रसगं० पृ० ११४।

३. विवृत्ति, ना० द० पृ० १४२-१४३।

४. दि नाट्यदर्पण ऑफ रामचन्द्र एण्ड गुणचन्द्र : ए क्रिटिकल स्टडी पृ० १४७।

५. अभिनवोत्तर संस्कृत-काव्यशास्त्र में साधारणीकरण-विमर्श पृ० ६५।

साधारणीकृत विभाव आदि के प्रभाव से ही प्रमाता हनुमान् आदि समुद्र-लङ्घन आदि रूप अलौकिक कार्यों के साथ अभेद सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और तब वह हनुमान् आदि के उत्साह आदि का अनुभव करने लगता है।[1] यहाँ विश्वनाथ के मत में यह आशङ्का सम्भव है कि साधारणीकृत होने पर तो हनुमान् आदि विशिष्ट नहीं अपितु सामान्य हो जाते हैं, तब पुनः उनके विशिष्ट रूप के साथ प्रमाता अभेद सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित कर सकता है।

रामचन्द्र पुरी इस विरोधाभास का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यदि विचारपूर्वक देखा जाये तो विश्वनाथ का साधारणीकरण से तात्पर्य यही था कि प्रमाता के लिए नाट्य-काव्य निबद्ध पात्रों का साधारणीकरण हो जाता है अर्थात् रामादि अलौकिक पात्र प्रमाता आदि के लिए अगम्य नहीं रह जाते। वह उनके स्तर पर पहुँच जाता है तो उसके प्रभाव से वह उनके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। ऐसी व्याख्या करने पर विश्वनाथ और जगन्नाथ एक ही सिद्धान्त के स्थापक कहे जा सकते हैं।[2] क्या उनके इस स्पष्टीकरण को रामचन्द्र-गुणचन्द्र के प्रसङ्ग में स्वीकार नहीं किया जा सकता? क्योंकि आचार्य विश्वनाथ का साधारणीकरण भी तो प्रमाता के मूल अनुकार्य के साथ तादात्म्य में पूर्व सोपान का कार्य करता है।

आचार्य भरत का कथन है कि सामान्य गुणयोग से रस निष्पन्न होते हैं।[3] साधारणीकरण और तादात्म्य सिद्धान्तों के मध्य उनके बीजरूप का अनुसन्धान भरत के इन शब्दों में सम्भव है। इसी प्रकार धनञ्जय द्वारा स्वीकृत साधारणीकरण और रामचन्द्र-गुणचन्द्र द्वारा स्वीकृत तादात्म्य अथवा अध्यवसान के औचित्य-अनौचित्य विषयक चर्चा में लिप्त होना उचित प्रतीत नहीं होता, तथापि इतना कथन अनुचित न होगा कि साधारणीकरण को स्वीकार करने पर भी तादात्म्य को किसी न किसी रूप में स्वीकार अवश्य करना होगा। भट्ट नायक द्वारा निरूपित साधारणीकरण सिद्धान्त के संशोधक अभिनवगुप्त के विचारों में भी तादात्म्य की प्रतिध्वनि का श्रवण सम्भव है।[4] रामचन्द्र पुरी का कथन है कि आचार्य भरत तथा भट्टनायक को भी आश्रय के साथ प्रमाता के तादात्म्य का सिद्धान्त स्वीकार्य था।[5] यदि यही वस्तुस्थिति है तो धनञ्जय के सम्बन्ध में भी यह कल्पना सहज सम्भव है।

---

१. व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणी कृतिः।
तत्प्रभावेण, यस्यासन्पाथोधिप्लवनादयः॥ ९॥
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।
उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याभिमानतः ॥ १०॥
नृणामपि समुद्रादिलंघनादौ न दुष्यति॥ ११।३ सा० द०

२. साधारणीकरण और तादात्म्य पृ० ६७।

३. एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते। ना० शा० भाग–१ पृ० ३४८।

४. तथाहि—लौकिकानुमानेन संस्कृतः प्रमदादिना तत्स्थ्येन प्रतिपद्यते। अपितु हृदयसंवादात्मक सहृदयत्व-बलात्पूर्णीभविष्यद्रसास्वादाङ्कुरीभावेनानुमानस्मृत्यादिसोपानमारुह्येव तन्मयीभावोचितचर्वणाप्राणतया। अभि० भा० (ना० शा० भाग–१) पृ० २८४।

५. साधारणीकरण और तादात्म्य पृ० ६१।

प्रमाता की रसानुभूति के सम्बन्ध में यदि आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाये तो धनञ्जय की अपेक्षा रामचन्द्र-गुणचन्द्र की विचारधारा सत्य के अधिक निकट प्रतीत होती है। डॉ० सुलेखचन्द्र शर्मा भी इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि काव्यास्वाद और लोकानुभूति के जिस सम्बन्ध को वे जिस यथार्थ मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित करते हैं, उसमें अनुभूतियों के सामञ्जस्य के गुणात्मक कोटिक्रम की आधुनिक अवधारणा उनके चिन्तन को विशिष्ट बना देती है।[1]

काजी पाड़ा, बिजनौर (उ. प्र.) २४६७०१

संदर्भ ग्रन्थ

१. अभिनवोत्तर संस्कृत-काव्यशास्त्र में साधारणीकरण-विमर्श : डॉ. सुलेख चन्द्र शर्मा; देवपाणि परिषद् दिल्ली, प्रथम संस्करण १९८३।

२. अभि. भा.–अभिनवभारती (नाट्यशास्त्र से उद्धृत)

३. का. प्र.–काव्य प्रकाश : मम्मट; आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९६०।

४. दश.–दशरूपक : धनञ्जय, डॉ. श्री निवास शास्त्री; साहित्य भण्डार, मेरठ, तृतीय संस्करण १९७६।

५. दि नाट्यदर्पण ऑफ रामचन्द्र एण्ड गुणचन्द्र–ए क्रिटिकल स्टडी : डॉ. एच. त्रिवेदी; एल. डी. इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, अहमदाबाद, फर्स्ट एडिशन १९६६।

६. धनिक-वृत्ति (धनञ्जय के दशरूपक से उद्धृत)।

७. ध्वनि-सिद्धान्त : विरोधी सम्प्रदाय-उनकी मान्यताएँ : डॉ. सुरेशचन्द्र पाण्डेय, वसुमती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १९७२।

८. ध्वन्या.–ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन, डॉ रामसागर त्रिपाठी, द्वितीय खण्ड, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९६३।

९. ना. द.–नाट्यदर्पण : रामचन्द्र-गुणचन्द्र; ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा १९५९।

१०. ना. शा.–नाट्यशास्त्र : आचार्य भरत; भाग–१, ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट बड़ौदा, द्वितीय संस्करण १९५६।

११. बाल बो.–बालबोधिनी : भट्टवामनाचार्य झलकीकर द्वारा रचित काव्य प्रकाश की टीका : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, द्वितीय संस्करण १९०१।

१२. भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय; शारदा मन्दिर, वाराणसी, १९७१।

१३. रस-सिद्धान्त : डॉ. ऋषिकुमार चतुर्वेदी; ग्रन्थायन, सर्वोदय नगर, सासनीगेट, अलीगढ़, प्रथम संस्करण १९८१।

१४. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन : डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त; भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, प्रथम संस्करण १९६२।

१५. रस-सिद्धान्त : डॉ. नगेन्द्र : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, तृतीय संस्करण १९७६।

---

१. अभिनवोत्तर संस्कृत-काव्यशास्त्र में साधारणीकरण-विमर्श पृ० ६५।

१६. रस-सिद्धान्त : इतिहास और मूल्यांकन : सम्पादक डॉ. रामगोपाल शर्मा और प्रतापचन्द्र जैसवाल; समीक्षा लोक कार्यालय, आगरा १९७८।

१७. इस-विमर्श : डा. राममूर्ति त्रिपाठी; विद्यामन्दिर, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९६५।

१८. रसगं.–रसगंगाधर–पण्डितराज जगन्नाथ, बदरीनाथ झा और मदन मोहन झा, प्रथम आनन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण १९६४।

१९. लो०–लोचन, ध्वन्यालोक पर अभिनवगुप्त की टीका (ध्वन्यालोक से उद्धृत)

२०. संस्कृत-नाट्य-सिद्धान्त : डॉ० रमाकान्त त्रिपाठी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९६९।

२१. साधारणीकरण एक शास्त्रीय अध्ययन : डा० रामलखन शुक्ल; साहित्य सदन, देहरादून, प्रथम संस्करण १९६७।

२२. सा० द०–साहित्य दर्पण : विश्वनाथ; शालग्राम शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सप्तम संस्कररण १९७३।

२३. साधारणीकरण ओर तादात्म्य : रामचन्द्र पुरी, पुस्तक प्रचार, गान्धीनगर, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९८३।

२३. हि० ना० द०–हिन्दी नाट्यदर्पण : रामचन्द्र-गुणचन्द्र, आचार्य विश्वेश्वर, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९६१।

२५. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स : पी० वी० काणे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, थर्ड एडिशन १९६१।

खजुराहो का पार्श्वनाथ मन्दिर : ब्राह्मण एवं जैन धर्मों के समन्वय का मूर्तरूप

डॉ० मारुति नन्दन प्रसाद तिवारी

जैन धर्म में समन्वय का भाव अत्यन्त उदार रहा है। इसी कारण ब्राह्मण धर्म के देवी-देवताओं को जैन देवमण्डल में उदारतापूर्वक सम्मिलित किया गया है। जैन धर्म की ६३ शलाका-पुरुषों की सूची में राम, बलराम एवं कृष्ण-वासुदेव के अतिरिक्त रावण एवं जरासंध भी सम्मिलित हैं।[१] राम और कृष्ण ब्राह्मण धर्म के दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण चरित्र रहे हैं। जनमानस में इनकी विशेष लोकप्रियता के कारण ही जैन देवमण्डल में इन्हें क्रमशः २०वें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के सम-कालीन ८वें बलदेव और २२वें तीर्थङ्कर नेमिनाथ के चचेरे भाई के रूप में ९वें वासुदेव के रूप में मान्यता मिली।[२] मथुरा की कुषाणकालीन नेमिनाथ-मूर्तियों में सर्वप्रथम बलराम और कृष्ण का निरूपण हुआ है।[३] मथुरा के अतिरिक्त बलराम और कृष्ण का अंकन देवगढ़ (मन्दिर-२, १०वीं शती ई०) की नेमिनाथ मूर्तियों में तथा विमलवसही एवं लूणवसही (१२वीं-१३वीं शती ई०) के वितानों पर देखा जा सकता है।[४] कृष्ण की तुलना में राम का शिल्पांकन लोकप्रिय नहीं था। राम की मूर्तियाँ केवल खजुराहो के पार्श्वनाथ जैन मन्दिर पर ही मिलती हैं। २४ तीर्थङ्करों के शासन देवताओं के रूप में निरूपित यक्ष और यक्षियों में भी अधिकांश ब्राह्मण प्रभाव से युक्त हैं। इनके विष्णु, शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, स्कन्द-कार्त्तिकेय, काली, गौरी, सरस्वती, चामुण्डा के नामों और लक्षणों के प्रभाव देखे जा सकते हैं। ऋषभनाथ के गोमुख यक्ष और चक्रेश्वरी यक्षी तथा श्रेयांसनाथ के ईश्वर यक्ष और गौरी यक्षी इस प्रभाव को पूरी तरह स्पष्ट करते हैं।

जैन देवमण्डल में ब्राह्मण देवी-देवताओं के सम्मिलित किए जाने के अन्य कई उदाहरण भी दिए जा सकते हैं। किन्तु यहाँ खजुराहो के पार्श्वनाथ जैन मन्दिर पर आकारित ब्राह्मण देव-मूर्तियों का दोनों धर्मों के समन्वय की दृष्टि से अध्ययन ही हमारा अभीष्ट है।

मध्य प्रदेश के छत्तरपुर जिले में स्थित खजुराहो, मूर्तियों और मन्दिरों के कारण विश्व प्रसिद्ध है। चन्देल शासकों के संरक्षण में लगभग ९वीं से १२वीं शती ई० के मध्य इस स्थल पर शैव, वैष्णव, शाक्त एवं जैन धर्मों से सम्बन्धित मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण हुआ। खजुराहो के

१. **पउमचरिय**, ५-१४५-५७।

२. राम से सम्बन्धित ग्रन्थों में विमलसूरि कृत **पउमचरिय** (४७३ ई०) और कृष्ण से सम्बन्धित ग्रन्थों में **उत्तराध्ययनसूत्र**, **नायाधम्मकहाओ** एवं **अंतगडदसाओ** जैसे तीसरी-चौथी शती ई० के प्रारम्भिक ग्रन्थों के अतिरिक्त जिनसेनकृत **हरिवंशपुराण** (७८३ ई०), **महापुराण** एवं हेमचन्द्र कृत **त्रिशष्टिशलाका-पुरुष चरित्र** मुख्य हैं।

३. राज्य संग्रहालय, लखनऊ जे. ८, जे. ४७, जे. १२१; मथुरा संग्रहालय, २५०२।

४. कालियदमन, कंदुकक्रीड़ा, नृसिंहमूर्ति (विमलवसही); कृष्णजन्म एवं बाललीला के दृश्य (लूणवसही)।

जैन मन्दिर पूर्वी समूह के मन्दिरों के अन्तर्गत आते हैं। घण्टई मन्दिर के अतिरिक्त खजुराहो के अन्य सभी प्राचीन और नवीन जैन मन्दिर एक विशाल किन्तु आधुनिक चहारदीवारी के अन्दर स्थित हैं। इस स्थल के नवीन जैन मन्दिर भी प्राचीन मन्दिरों के ध्वंसावशेषों से ही निर्मित हैं। वर्तमान में इस चहारदीवारी के अन्दर कुल ३२ जैन मन्दिर हैं, जिनमें केवल पार्श्वनाथ और आदिनाथ मन्दिर ही अपने मूलरूप में हैं।

खजुराहो के जैन मन्दिरों में पार्श्वनाथ मन्दिर प्राचीन और सर्वाधिक सुरक्षित है। स्थापत्य-गत योजना एवं मूर्त अलंकरणों की दृष्टि से भी पार्श्वनाथ मन्दिर जैन मन्दिरों में विशालतम एवं सर्वोत्कृष्ट है। पूर्वाभिमुख पार्श्वनाथ मन्दिर के पश्चिमी प्रक्षेप में गर्भगृह के पृष्ठभाग से जुड़ा एक स्वतन्त्र देवालय भी है, जो इस मन्दिर की अभिनव विशेषता है। श्रीकृष्णदेव ने लक्ष्मण मन्दिर (९३०-५० ई०) से समानता के आधार पर पार्श्वनाथ मन्दिर को धंग के शासनकाल के प्रारम्भिक दिनों (९५०-७० ई०) में निर्मित माना है।[1] पार्श्वनाथ मन्दिर मूलतः ऋषभनाथ को समर्पित था, जो गर्भगृह को गोमुख-चक्रेश्वरी से युक्त मूल प्रतिमा के सिंहासन तथा ललाटबिम्ब पर चक्रेश्वरी के निरूपण से स्पष्ट है।

पार्श्वनाथ मन्दिर ब्राह्मण और जैन धर्मों के समन्वय का निःसन्देह मूर्तरूप है। दोनों धर्मों के समन्वय या सहअस्तित्व का इतना स्पष्ट मूर्त उदाहरण हमें अन्य किसी मन्दिर में नहीं मिलता है। इस मन्दिर के विभिन्न भागों पर ब्राह्मण धर्म के देवी-देवताओं तथा काम सम्बन्धी मूर्तियां बनी हैं, जो मन्दिर के निर्माण में ब्राह्मण प्रभाव को पूरी तरह स्पष्ट करती हैं। विष्णु को समर्पित पूर्ववर्ती लक्ष्मण मन्दिर का, स्थापत्य और देव-मूर्तियों की दृष्टि से पार्श्वनाथ मन्दिर पर स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। दोनों मन्दिरों की कृष्णलीला (यमलार्जुन) तथा राम-सीता-हनुमान और बलराम-रेवती की मूर्तियां समान विवरणों वाली हैं।

पार्श्वनाथ जैन मन्दिर के विक्रम संवत् १०११ के लेख में उल्लेख है कि धंग के शासन काल में हो श्रेष्ठि पाहिल ने जिननाथ (पार्श्वनाथ) का भव्य मन्दिर बनवाकर उसके लिए प्रभूत दान दिया था। महाराज धंग के गुरु वासवचन्द्र भी जैन थे, जिन्होंने निश्चित ही अपने पद के प्रभाव का उपयोग किया होगा। पाहिल द्वारा पार्श्वनाथ मन्दिर को सात वाटिकाओं का दान दिए जाने पर धंग ने उनका सम्मान भी किया था। यह बात जैन धर्म के प्रति धंग के उदार दृष्टिकोण को प्रकट करती है।[2]

पार्श्वनाथ मन्दिर के गर्भगृह तथा मण्डप को भित्तियों के प्रक्षेपों और आलों में जंघा पर क्रमशः नीचे से ऊपर की ओर छोटी होती गयी मूर्तियों की तीन समानान्तर पंक्तियाँ हैं। नीचे की

---

१. कृष्णदेव, "दि टेम्पुल्स आफ खजुराहो इन सेन्ट्रल इण्डिया, **एन्शियण्ट इण्डिया**, अंक १५, १९५९, पृ. ५४; लक्ष्मण और पार्श्वनाथ मन्दिरों पर धंग के शासन काल के विक्रम संवत् १०११ (९५४ ई०) के दो लेख हैं। इन लेखों की लिपि में पर्याप्त अन्तर के कारण पार्श्वनाथ मन्दिर के लेख को लुप्त मूल अभिलेख की प्रतिलिपि माना जाता है, जिसे लगभग १०० वर्ष बाद फिर से लिखा गया।

२. **एपिग्राफिया इण्डिका**, खण्ड–१, पृ. १३५-३६; कृष्णदेव, **पूर्वनिर्दिष्ट**, पृ. ४५; **जन्नास**, ई० तथा ऊबइये, जे., **खजुराहो**, हेग, १९६०, पृ. ६।

१९

पंक्ति में प्रक्षेपों पर विभिन्न देवताओं की स्वतंत्र तथा शक्तिसहित एवम् अप्सराओं तथा जिनों की लांछनरहित मूर्तियाँ हैं। इनमें अष्टदिक्पालों, यक्षी अम्बिका, शिव, विष्णु एवं ब्रह्मा आदि की मूर्तियाँ हैं। बीच-बीच में आलों में व्यालों की विविध रूपों वाली मूर्तियाँ हैं। मध्य की पंक्ति में विभिन्न देव युगलों, लक्ष्मी तथा लांछनरहित जिनों आदि की मूर्तियाँ हैं। मूर्तिविज्ञान की दृष्टि से केवल निचली दो पंक्तियों की मूर्तियाँ ही महत्वपूर्ण हैं।[1] ऊपर की पंक्ति में प्रक्षेपों तथा आलों में पुष्पहार से युक्त विद्याधर युगल, गन्धर्व एवं किन्नर-किन्नरियों की उड्डीयमान आकृतियाँ हैं। नीचे की दोनों पंक्तियों की देव-युगल एवं स्वतंत्र देवों की मूर्तियों में देवता सदैव चतुर्भुज हैं किन्तु उनकी शक्तियां द्विभुजा हैं। इन मूर्तियों में देवताओं की शक्तियों की एक भुजा सदा आलिंगन-मुद्रा में है और दूसरे में दर्पण या पद्म प्रदर्शित है। तात्पर्य यह है कि विभिन्न देवताओं के साथ उनकी पारम्परिक शक्तियों, यथा—विष्णु के साथ लक्ष्मी, ब्रह्मा के साथ ब्रह्माणी एवं शिव के साथ शिवा के स्थान पर व्यक्तिगत विशेषताओं से रहित सामान्य लक्षणों वाली शक्तियाँ निरूपित हैं। मण्डप और गर्भगृह के जंघा के अतिरिक्त ब्राह्मण देवताओं की स्वतंत्र एवं युगल मूर्तियाँ मन्दिर के शिखर एवं वरण्ड भाग पर भी चारों ओर बनी हैं। स्वतंत्र देवमूर्तियों में केवल शिव, विष्णु एवं ब्रह्मा की तथा देव-युगलों में शिव, विष्णु एवं ब्रह्मा के साथ ही कुबेर, राम, बलराम, अग्नि एवं काम की भी मूर्तियां हैं। जंघा की मूर्तियों में देवता सदैव त्रिभंग में हैं, पर अन्य भागों की मूर्तियों में इन्हें ललितमुद्रा में भी दिखाया गया है। मन्दिर के जंघा एवं अन्य भागों पर जैन यक्षी, अम्बिका एवं चक्रेश्वरी तथा सरस्वती, लक्ष्मी, ब्रह्माणी आदि की भी मूर्तियाँ हैं। जिनों तथा चक्रेश्वरी एवं अम्बिका यक्षियों की मूर्तियों के अतिरिक्त मण्डप के जंघा की अन्य सभी मूर्तियां ब्राह्मण देवकुल से सम्बन्धित और प्रभावित हैं। इन मूर्तियों में विष्णु के किसी अवतार रूप तथा इसी प्रकार शिव के किसी संहारक या अनुग्रहकारी स्वरूप की मूर्तियाँ नहीं हैं, जिससे यह प्रकट होता है कि कलाकार ने ब्राह्मण प्रभाव पर किंचित् नियंत्रण रखने की भी चेष्टा की थी। त्रिशूल एवं सर्प तथा नन्दी वाहन वाले शिव एवं श्रुक और पुस्तक से युक्त ब्रह्मा को कुछ विद्वानों ने क्रमशः जैन परम्परा के ईश्वर और ब्रह्मशान्ति यक्षों से पहचानने का प्रयास किया है, जो इस मन्दिर के शिल्पांकन में ब्राह्मण देव-मूर्तियों के स्पष्ट प्रभाव के परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिक नहीं है। खजुराहो में श्रेयांशनाथ की एक भी मूर्ति नहीं है, अतः श्रेयांशनाथ के यक्ष ईश्वर के स्वतंत्र निरूपण का प्रश्न ही नहीं उठता।

इसी प्रकार पार्श्वनाथ मन्दिर पर विष्णु एवं बलराम की कई स्वतन्त्र तथा शक्तिसहित युगल मूर्तियाँ हैं। किन्तु खजुराहो की नेमिनाथ की मूर्तियों में बलराम और कृष्ण का निरूपण नहीं हुआ है, जबकि देवगढ़ तथा मथुरा के दिगम्बर स्थलों पर नेमिनाथ की मूर्तियों में इनका अंकन हुआ है। तात्पर्य यह कि पार्श्वनाथ मन्दिर की विष्णु तथा बलराम की मूर्तियाँ ब्राह्मण मन्दिरों के अनुकरण पर बनीं। यदि ये जैन परम्परा के अन्तर्गत बनी होतीं तो नेमिनाथ की मूर्तियों में भी उनका निश्चित ही अंकन हुआ होता। इसी सन्दर्भ में एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि देवताओं का अपनी शक्तियों के साथ आलिंगनमुद्रा में निरूपण भी पूरी तरह जैन परम्परा के विरुद्ध है। जैन परम्परा में कहीं भी कोई देवता अपनी शक्ति के साथ अभिलक्षित नहीं हुआ है। ऐसी स्थिति में

१. विस्तार के लिए द्रष्टव्य, ब्रुन, क्लाज़, "दि फिगर आव टू लोअर रिलीफ्स आन दि पार्श्वनाथ टेम्पुल ऐट खजुराहो", **आचार्य श्री विजय वल्लभसूरि स्मारक ग्रन्थ**, बम्बई, १९५६, पृ. ७-३५।

देवताओं का शक्ति के साथ और वह भी आलिंगनमुद्रा में निरूपण परम्परा के सर्वथा प्रतिकूल है। यह तथ्य भी मन्दिर की मूर्तियों के ब्राह्मण देव-परिवार से सम्बन्धित होने का ही समर्थक है।

पार्श्वनाथ मन्दिर की अप्सरा मूर्तियाँ खजुराहो मन्दिरों में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती हैं। इनमें नारी सौन्दर्य पूरी तरह साकार हो उठा है। अप्सरा मूर्तियों में तीखी भंगिमाओं के माध्यम से शारीरिक आकर्षण और ऐन्द्रिकता की जो अभिव्यक्ति हुई है, जैन धर्म उसकी भी संस्तुति नहीं करता। अप्सरा मूर्तियों के अतिरिक्त मन्दिर पर कामक्रिया में रत युगलों की चार मूर्तियाँ हैं। इनमें स्त्री-पुरुष युगलों को निर्वस्त्र और प्रगाढ़ आलिंगन तथा सम्भोग की स्थिति में दिखाया गया है। गर्भगृह की दक्षिणी भित्ति पर वस्त्रधारी एक स्त्री पुरुष युगल की प्रगाढ़ में आलिंगनबद्ध मूर्ति भी है[1]। यद्यपि पार्श्वनाथ मन्दिर की काम-मूर्तियाँ खजुराहो के लक्ष्मण, कन्दरिया महादेव, दूलादेव एवं विश्वनाथ मन्दिरों की तुलना में बिल्कुल ही उद्दाम नहीं हैं किन्तु इस प्रकार का शिल्पांकन निश्चित ही ब्राह्मण मन्दिरों के प्रभाव का प्रतिफल है। पार्श्वनाथ मन्दिर के शिल्पांकन में जहाँ ब्राह्मण प्रभाव पूरी तरह मुखर है वहीं आदिनाथ मन्दिर इस प्रभाव से पूरी तरह मुक्त है।

पार्श्वनाथ मन्दिर के भित्ति एवं अन्य भागों की स्वतन्त्र एवं देव युगल मूर्तियों में पद्म के विविध रूपों तथा सर्प और बीजपूरक का सामान्य रूप से प्रदर्शन हुआ है। गर्भगृह की भित्ति के आठ कोणों की दिक्पाल मूर्तियों के ऊपर शिव की आठ मूर्तियाँ बनी हैं। इनमें जटामुकुट, वनमाला और उपवीत से शोभित चतुर्भुज शिव त्रिभंग में हैं और उनके हाथों में वरदाक्ष, त्रिशूल, सर्प और कमण्डल है। समीप ही वाहन नन्दी भी उत्कीर्ण है। मण्डप की भित्ति पर भी शिव की इन्हीं विशेषताओं वाली चतुर्भुज मूर्तियाँ हैं। पूर्वी भित्ति की एक मूर्ति में शिव अपस्मारपुरुष पर खड़े हैं और उनके करों में अभयमुद्रा, त्रिशूल, चक्राकार पद्म तथा कमण्डल हैं। मण्डप की अन्य मूर्तियों में नन्दीवाहन वाले शिव जटामुकुट से शोभित हैं और उनके दो करों में पद्म और शेष दो में त्रिशूल, सर्प, कमण्डल या बीजपूरक में से कोई दो प्रदर्शित हैं। एक उदाहरण में शिव के हाथों में अभयमुद्रा, गदा, सर्प और कमण्डलु भी प्रदर्शित है। ये मूर्तियाँ ऋषभनाथ और शिव के पारस्परिक सम्बन्ध को प्रकट करती हैं।

विष्णु की स्वतन्त्र मूर्तियाँ केवल मण्डप की भित्ति पर ही हैं इनमें चतुर्भुज विष्णु के साथ वाहन नहीं दिखाया गया है। उनके हाथों में गदा, शंख, चक्र, धनुष, पद्म आदि प्रदर्शित हैं। अधिकांशतः विष्णु को एक हाथ गदा पर टेककर आराम करने की मुद्रा में दिखाया गया है। कुछ उदाहरणों में परशु, बीजपूरक तथा अभयमुद्रा भी दिखायी गयी है।

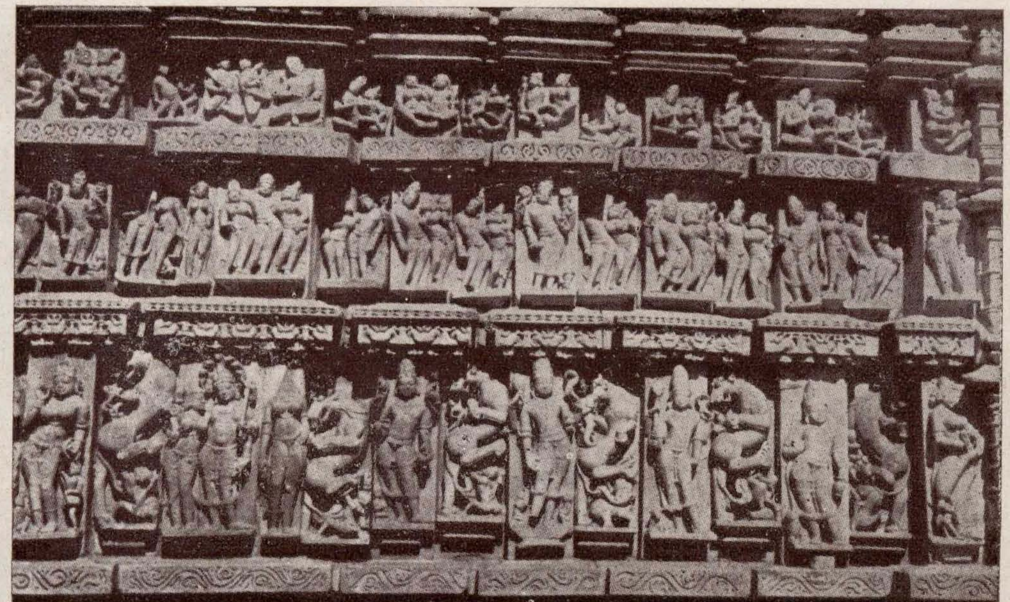
---

१. तांत्रिक प्रभाव एवम् अन्य धर्मों तथा उनसे सम्बन्धित कलास्थलों पर काम सम्बन्धी अंकनों की विशेष लोकप्रियता के कारण ही सम्भवः जैनों ने भी इस प्रकार के मूर्त अंकनों की प्रासंगिकता का अनुभव किया होगा। यह बात जैन ग्रन्थ **हरिवंशपुराण** (७८३ ई०) के एक सन्दर्भ से भी स्पष्ट है (२९.१०५)। **हरिवंशपुराण** (जिनसेनकृत) में एक स्थल पर उल्लेख है कि सेठ कामदत्त ने प्रजा के कौतुक के लिए एक जिन मन्दिर में कामदेव और रति की मूर्तियां भी बनवाई। कामदेव और रति को देखने के कौतूहल से जगत् के लोग जिन मन्दिर में आते थे, और इस प्रकार कौतुकवश आए हुए लोगों को जिन धर्म की प्राप्ति होती थी। यह जिनमंदिर कामदेव मंदिर के नाम से ही प्रसिद्ध था।

मण्डप की भित्ति, शिखर एवं अन्य भागों पर विष्णु-लक्ष्मी तथा शिव-पार्वती (२५ से अधिक) की सर्वाधिक मूर्तियाँ हैं। इनमें शिवपार्वती या तो त्रिभंग में हैं या फिर ललितमुद्रा में। शिव-पार्वती की मूर्तियों में शिव का एक हाथ कटि पर है और दो में पद्म और सर्प हैं; एक हाथ आलिंगनमुद्रा में है। वाम पार्श्व की देवी का दाहिना हाथ आलिंगनमुद्रा में है तथा बायें में बीज-पूरक (या दर्पण) है। कभी-कभी शिव के दो हाथों में से एक में फल और दूसरे में पद्म भी प्रदर्शित है। लक्ष्मी-नारायण मूर्तियों में, जिसका एक मनोज्ञ उदाहरण दक्षिणी भित्ति पर है, विष्णु किरीट-मुकुट से शोभित हैं और उनके तीन हाथों में पद्म, शंख और चक्र प्रदर्शित हैं, एक हाथ आलिंगनमुद्रा में है। कभी-कभी विष्णु को गदा पर एक हाथ टेककर आराम करते हुये भी दिखाया गया है। ऐसी मूर्तियों में अन्य हाथों में शंख और सर्प (या फल या पद्म) हैं। वाम पार्श्व की लक्ष्मी आकृति का दाहिना हाथ सदा आलिंगनमुद्रा में है और बायें में पद्म है।

विष्णु और शिव के अतिरिक्त मन्दिर पर ब्रह्मा की भी स्वतन्त्र और युगल मूर्तियाँ हैं। मन्दिर की जंघा पर श्मश्रु युक्त ब्रह्मा की एक स्वतन्त्र मूर्ति है। ब्रह्मा के करों में वरदाक्ष, स्रुक, पुस्तक और कमण्डलु प्रदर्शित हैं। यहाँ ब्रह्मा के साथ न तो वाहन दिखाया गया है और न ही ब्रह्मा त्रिमुख हैं। उत्तरी भित्ति पर ब्रह्मा की शक्तिसहित मूर्ति है। ब्रह्मा यहाँ तीन मुखों वाले, घटोदर और श्मश्रु युक्त हैं। उनके दो हाथों में स्रुक और पुस्तक हैं जबकि शेष दो हाथों में से एक कटि पर है और दूसरा आलिंगनमुद्रा में है। यहाँ शक्ति को ब्रह्मा के दाहिने पार्श्व में दिखलाया गया है। देवी की वाम भुजा आलिंगनमुद्रा में है जबकि दाये में चक्रकार पद्म है।

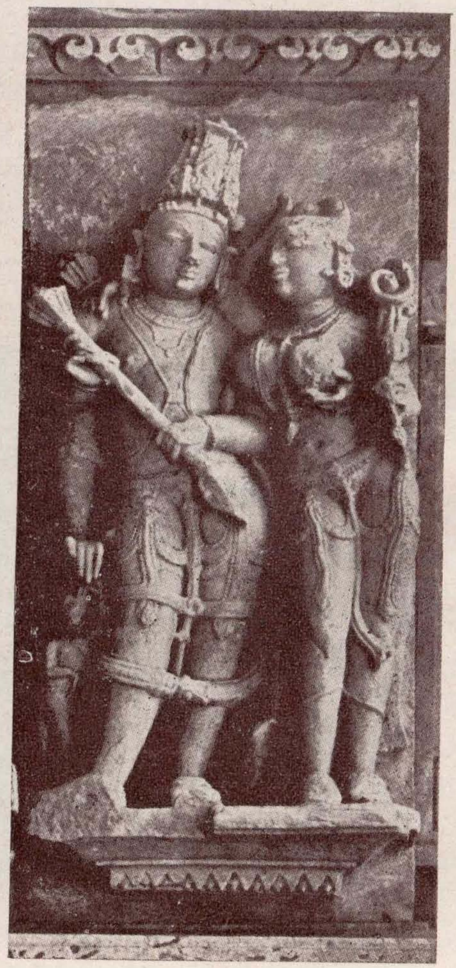
जंघा पर बलराम-रेवती, कुबेर-कौबेरी, अग्नि-आग्नेयी, राम-सीता, काम-रति एवं यम-यमी (?) की भी मूर्तियां हैं। दक्षिणी भित्ति की सप्त सर्पफणों के छत्रवाले किरीट मुकुट से शोभित बलराम की मूर्ति में दो करों में चषक और हल हैं; एक दाहिना हाथ आलिंगनमुद्रा में है तथा बायां कटि पर है। यहाँ भी शक्ति दक्षिण पार्श्व में ही खड़ी है। शक्ति के दाहिने हाथ में सनाल पद्म है जबकि बायां आलिंगनमुद्रा में है। दक्षिणी भित्ति पर ही कुबेर की भी शक्तिसहित मूर्ति है। कुबेर की एक दक्षिण भुजा आलिंगन में है और दो में नकुलक एवं चक्राकार पद्म हैं; चौथी भुजा गदा पर आराम कर रही है। दक्षिण पार्श्व की कौबेरी की मूर्ति में दाहिने हाथ में चक्राकार पद्म है, जब कि बायां आलिंगनमुद्रा में है। उत्तरी भित्ति की राम-सीता मूर्ति में किरीट मुकुट तथा छन्नवीर से सज्जित राम के दो हाथों में एक लम्बा बाण प्रदर्शित है। राम की उर्ध्व वाम भुजा आलिंगनमुद्रा में है जबकि नीचे का दाहिना हाथ पालितमुद्रा में दक्षिण पार्श्व में खड़े कपिमुख हनुमान के मस्तक पर है। राम की पीठ पर तूणीर भी प्रदर्शित है। सीता के बायें हाथ में नीलोत्पल है और दाहिना हाथ आलिंगनमुद्रा में है। इस मूर्ति के ऊपर ही सम्भवतः रावण द्वारा सीता से भिक्षा ग्रहण करने का प्रसंग भी उत्कीर्ण है। जटामुकुट से युक्त साधु आकृति (रावण) के भिक्षापात्र में उसके सामने खड़ी स्त्री आकृति (सीता) को भिक्षा डालते हुए दिखाया गया है। पार्श्वनाथ मन्दिर के दक्षिण शिखर पर उत्कीर्ण रामायण के एक अन्य कथा दृश्य का उल्लेख भी यहाँ प्रासंगिक है। अशोकवाटिका से सम्बन्धित दृश्य में क्लान्तमुख सीता को खड्गधारी असुर आकृतियों से वेष्टित दिखाया गया है। सीता के समक्ष ही कपिमुख हनुमान की आकृति बनी है जिन्हें सीता को राम की मुद्रिका देते हुए दर्शाया गया है। जैन ग्रन्थ **पउमचरिय** (विमलसूरिकृत) में रामकथा का विस्तृत उल्लेख है। इस



चित्र १
दक्षिणी भित्ति (बलराम-रेवती, शिव), पार्श्वनाथ मन्दिर, खजुराहो



चित्र २
विष्णु-लक्ष्मी (आलिंगन मूर्ति) दाक्षिणी भित्ति
पार्श्वनाथ मन्दिर, खजुराहो
(चित्र अमेरिकन इन्स्टिट्यूट ऑव स्टडीज,
वाराणसी के सौजन्य से)



चित्र ३
राम-सीता (आलिंगन मूर्ति) उत्तरी
भित्ति, पार्श्वनाथ मन्दिर खजुराहो
(चित्र अमेरिकन इन्स्टीट्यूट ऑव
स्टडीज, वाराणसी के सौजन्य से)

ग्रन्थ में अशोकवाटिका से सम्बन्धित दृश्य की भी चर्चा मिलती है (**पउमचरिय** ५३।११)। अर्ध-मण्डप और मण्डप पर वरण्ड के ऊपर द्विभुज राम की कई छोटी मूर्तियाँ भी हैं। इनमें राम के दोनों हाथों में एक लम्बा शर दिखाया गया है।

मण्डप की उत्तरी भित्ति पर ही अग्नि की भी शक्तिसहित एक मूर्ति है। अग्नि श्मश्रु युक्त है और उनके तीन हाथों में धनुकार्षण, दण्ड और शिखा हैं तथा एक हाथ आलिंगनमुद्रा में है। शक्ति की दाहिनी भुजा आलिंगनमुद्रा में है, जबकि बायें में चक्राकार पद्म है। काम और रति की भी दो युगल मूर्तियाँ हैं जो क्रमशः पूर्व और उत्तर की भित्तियों पर हैं। पूर्वी भिति की मूर्ति में श्मश्रु और जटामुकुट से शोभित काम के दो हाथों में पंचशर एवं इषु-धनु है, जबकि शेष दो हाथों में से एक व्याख्यानमुद्रा में है और दूसरा आलिंगनमुद्रा में। उत्तरी भित्ति की मूर्ति में काम-दाढ़ी मूँछों से रहित तथा किरीट मुकुट से सज्जित है। उनके दो हाथों में पूर्ववत् पंचशर (मानव मुख) और इषु-धनु हैं, तथा एक हाथ आलिंगन मुद्रा में है। केवल व्याख्यानमुद्रा के स्थान पर एक हाथ में पद्म-कलिका प्रदर्शित है। दोनों ही उदाहरणों में रति बायें पार्श्व में खड़ी हैं और उनका दाहिना हाथ आलिंगनमुद्रा में है जबकि बायें में पुस्तक (या पद्म) प्रदर्शित है।

उत्तरी भित्ति पर ही एक ऐसी युगल मूर्ति भी है जिसकी सम्भावित पहचान यम-यमी से की जा सकती है। जटामुकुट और मूँछों से युक्त देवता के दो हाथों में खट्वांग और पताका है जबकि शेष हाथों में से एक में व्याख्यान-अक्षमाला है और दूसरा आलिंगनमुद्रा में है। शक्ति का दाहिना हाथ आलिंगनमुद्रा में है और बायें में पद्म है।

देव युगल आकृतियों के अतिरिक्त मन्दिर के जंघा तथा अन्य भागों पर सामान्य स्त्री-पुरुष युगलों की भी मूर्तियाँ हैं। ये मूर्तियां अधिकांशतः आलिंगनमुद्रा में हैं। इनमें स्त्री का दाहिना हाथ सदैव आलिंगन मुद्रा में है और बायें में दर्पण (या पद्म) प्रदर्शित है। कभी-कभी इन युगलों को वार्तालाप की मुद्रा में भी दिखलाया गया है। इन मूर्तियों में आकृतियां विभिन्न रूपों और वस्त्रा-भूषणों वाली हैं, जो समाज के विभिन्न वर्गों एवं स्तरों का प्रतिनिधित्व करती हैं। इनमें कभी-कभी स्त्री को चुम्बन की स्थिति में या चुम्बन के लिए पुरुष के सम्मुख आते हुए और पुरुष को स्त्री का हाथ पकड़ कर अपनी ओर खींचते हुए या उसके पयोधरों का स्पर्श करते हुए दिखलाया गया है। ये आकृतियां निर्वस्त्र न होकर पूरी तरह वस्त्र सज्जित हैं। कुछ उदाहरणों में समीप ही किसी आकृति को इन कृत्यों पर आश्चर्य व्यक्त करते या पीछे मुड़कर वापस लौटते हुए भी दिखाया गया है। पूर्वी जंघा के एक दृश्य में यह भाव पूरी तरह स्पष्ट है। दृश्य में श्मश्रु तथा जटाजूट से शोभित किसी ब्राह्मण साधु के दोनों ओर दो स्त्रियां खड़ी हैं। इनमें से एक ने साधु की दाढ़ी और दूसरे ने उसकी जटाओं को पकड़ रखा है। यह दृश्य निश्चित ही स्त्रियों द्वारा साधु को उसके किसी कृत्य पर दण्डित करने से सम्बन्धित है।

रीडर, कला इतिहास विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–२२१००५